बिहारी

बच्चन सिंह

भारतीय
साहित्य के

H
811.31
B 489 S

H
811.31
B489S

भारतीय साहित्य के निर्माता

बिहारी

लेखक
बच्चन सिंह

साहित्य अकादेमी

Bihari : A monograph on the 17th century Hindi poet by Bachchan Singh, Sahitya Akademi, New Delhi. (1998) Rs. 25.

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण : 1982
द्वितीय संस्करण : 1991
तृतीय संस्करण : 1992
पुनर्मुद्रण : 1997

H
811.31
B489S

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग, 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-0414-2

Library IIAS, Shimla
H 811.31 B 489 S
00094819

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : पवन ऑफसेट प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

विषय-क्रम

बिहारी : जीवन-परिचय	७
बिहारी का भाव-जगत	१२
शृंगारेतर-भाव-व्यंजना	३७
भाषा, छंद और अभिव्यक्ति	४५
बिहारी की महत्ता	५६

बिहारी : जीवन-परिचय

इस देश में जीवन-वृत्त लिखने की परम्परा ही नहीं रही है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, कबीर आदि का कोई प्रामाणिक जीवन-वृत्त नहीं मिलता। बहुत से लोगों का कालनिर्णय भी प्रामाणिकता के अभाव में विवादास्पद बना हुआ है। यही स्थिति बिहारी की भी है। उनके जीवन-वृत्त का ढाँचा खड़ा करने में बिहारी के दोहों, सतसई पर लिखी गयी टीकाओं की टिप्पणियों और इतिहास के पृष्ठों का आधार लिया गया है।

इतना निश्चित है कि वे मिर्जा राजा जयसिंह (आमेर) के आश्रय में रहा करते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है :

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

जयसिंह का उल्लेख उन्होंने कुछ अन्य दोहों में भी किया है। आमेर की राजगद्दी पर जयसिंह नाम के दो राजाओं के बैठने का उल्लेख है—मिर्जा राजा जयसिंह और सवाई जयसिंह। इनमें से एक जयसिंह बलख में फँसी मुगल सेनाओं को सकुशल निकाल ले आने में सफल हुए थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित है कि मुगल सेनाओं को बलख से सुरक्षित निकाल लाने का श्रेय मिर्जा राजा जयसिंह को है। अतः यह सिद्ध है कि ये मिर्जा राजा जयसिंह के दरबार के कवि थे।

ये माथुर चौबे थे। एक दोहे के आधार पर उनका जन्म सं० १६५२ (१५९५ ई०) मान लिया गया है, यद्यपि यह दोहा बहुत प्रामाणिक नहीं मालूम पड़ता। 'बिहारी सतसई' के पहले टीकाकार कृष्णलाल कवि ने बिहारी के ही एक दोहे के आधार पर उनके पिता का नाम केशवराय बताया है। बिहारी का एक प्रार्थना-परक दोहा है :

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ॥

सतसई की अन्य टीकाओं में भी 'केसवराइ' को उनका पिता कहा गया है।

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर की टीका 'बिहारी रत्नाकर' में भी इस दोहे का अर्थ करते समय कहा गया है कि केशवराय उनके पिता थे।

'केशवराय' नाम को लेकर कुछ लोगों ने कहना शुरू किया कि 'केशवराय' और कोई नहीं हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि 'केशवदास' हैं। इसे सिद्ध करने के लिए बिहारी के ही एक दोहे को प्रमाण मान लिया गया है :

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
छबि जुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुर राइ॥

अनुमान लगाया गया है कि 'राइ' शब्द ओड़छा की प्रसिद्ध नर्तकी 'प्रवीणराय' के लिए ले आया गया है। यदि यह अनुमान ठीक है तो बिहारी का ओड़छा में रहना सिद्ध हो जाता है। चूँकि केशव ओड़छा के दरबारी कवि थे इसलिए वे प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र हो सकते हैं।

बिहारी को केशवदास का पुत्र प्रमाणित करने के लिए दो और स्रोतों का सहारा लिया गया है—असनी के ठाकुर कवि (१८८१) की 'सतसैया वर्णार्थ' टीका का और मिश्रबन्धु-विनोद का। 'वर्णार्थटीका' की कहानी के अनुसार बिहारी की पत्नी कवयित्री थी। बिहारी जयपुर दरबार से वृत्ति पाते थे। एक बार अपनी वृत्ति लेने वे जयपुर गए तो महाराज से भेंट नहीं हुई। वे अपनी नयी पत्नी के प्रेम में इतने व्यस्त थे कि दरबार में आते ही नहीं थे। उनके पास तक स्वयं पहुँचना या संदेश पहुँचाना मुश्किल था। बिहारी खाली हाथ घर लौट आए। उनकी पत्नी ने 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाला दोहा लिखकर उन्हें पुनः जयपुर भेजा। वह दोहा जब जयसिंह को प्राप्त हुआ तो वे बाहर निकल आए और बिहारी को अँजुली भर मोहरें दीं। इस कहानी से सिद्ध होता है कि बिहारी की पत्नी श्रेष्ठ कवयित्री थीं।

'मिश्रबन्धुविनोद' में 'केशव-पुत्र-वधू' नाम की एक कवयित्री का उल्लेख मिलता है जिसका समय भी वही है जो केशव का है। 'केशव-पुत्र-वधू' कौन है? कुछ लोगों के विचार से 'केशव-पुत्रवधू' प्रसिद्ध कवि केशवदास की ही 'पुत्र-वधू' हैं। फिर इस 'केशव-पुत्र-वधू' का सम्बन्ध 'सतसैया वर्णार्थ' की कहानी से जोड़ दिया जाता है जिसमें बिहारी की पत्नी को कवयित्री कहा गया है। इस तरह की अनुमानाश्रित कथा के आधार पर केशवदास को बिहारी का पिता मान लिया गया है।

सतसई का एक अन्य दोहा है जो उनके गुरु और पिता पर आनुमानिक प्रकाश डालता है :

जम-करि मुँह-तरहरि पर्‌यो इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

इस दोहे में जो 'नरहरि' शब्द आया है उसका अर्थ नरहरिदास भी लगाया

जाता है। कहा जाता है कि नरहरिदास बिहारी के गुरु थे। नरहरिदास हरिदासी संप्रदाय के महन्त थे। इस संप्रदाय का एक ग्रन्थ है—'निजमत सिद्धान्त'। उस पुस्तक के अनुसार नरहरिदास बुन्देलखंड की नदी दास के किनारे गुढ़ी ग्राम में रहते थे। वृन्दावन के निधुवन के महन्त स्वामी सरसदेव घूमते-घूमते गुढ़ी ग्राम पहुँचे और नरहरिदास को अपना शिष्य बना लिया। बाद में वे अपने गुरु के पास वृन्दावन चले गए और उनकी गद्दी पर बैठे।

'निजमत सिद्धान्त' में नरहरिदास के कई शिष्यों का उल्लेख है। उनमें 'केशवराय' भी थे। लगता है बिहारी के पिता स्वामी नरहरिदास से दीक्षित हो चुके थे और उन्हीं महात्मा से बिहारी को भी दीक्षा दिलाई होगी। उस ग्रन्थ से ही पता चलता है कि ओड़छा के राजा का भी वहाँ आना-जाना होता था। इन्द्रजीत सिंह राजकीय परिवार के विशिष्ट व्यक्ति थे। यदि वे भी वहाँ आते-जाते रहे हों तो अस्वाभाविक नहीं है। यहीं पर उनसे केशव का सम्पर्क हुआ होगा। ओड़छा के पतन के दिनों में विरक्त केशवदास अपने गुरु के पास वृन्दावन चले गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसी स्थिति में बिहारी की शिक्षा-दीक्षा वृन्दावन में ही हुई होगी। 'स्व बस बसे ब्रज आइ' दोहे से इस प्रकार का संकेत निकाला जा सकता है। किन्तु इतने से ही पक्के तौर पर प्रमाणित नहीं हो पाता कि बिहारी के पिता सुप्रसिद्ध कवि केशवदास ही थे।

बिहारी के जन्म, बाल्यकाल और तरुणावस्था से संबद्ध स्थानों का उल्लेख एक दोहे में मिलता है जो बिहारी का लिखा हुआ माना जाता है, पर वह बिहारी सतसई में शामिल नहीं किया गया है :

जन्म ग्वालियर जानिये खंड बुंदेले बाल।
तरुणाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल॥

कहा जाता है कि शाहजहाँ से भी उनका संपर्क हुआ था और उसने उन्हें आगरे बुला लिया। बिहारी को शाहजहाँ के संपर्क में ले आने का श्रेय नरहरिदास को ही दिया जाता है। १६१८ ई० में शाहजहाँ वृन्दावन गया था। वह महात्मा नरहरिदास के दर्शनार्थ उनके आश्रम पर गया। महात्माजी ने बिहारी की प्रशंसा की। इसके फलस्वरूप शाहजहाँ ने बिहारी को आगरा आने के लिए कहा। आगरा में ही बिहारी ने फारसी की जानकारी प्राप्त की। कहा जाता है कि आगरे में ही अब्दुलरहीम खानखाना से भी उनकी भेंट हुई।

सन् १६२० में शाहजहाँ के दरबार में बहुत से राजे-महाराजे उपस्थित हुए। उस अवसर पर लोगों ने बिहारी का काव्य-चमत्कार देखा और उनके लिए वार्षिक वृत्ति बाँध दी। नूरजहाँ की कुटिलता के कारण जहाँगीर और शाहजहाँ में भेद पैदा हो गया। फलस्वरूप शाहजहाँ को आगरे से हट जाना पड़ा। अब

बिहारी भी आगरे से दूर इधर-उधर भटकने लगे। वे अपनी वृत्ति लेने बूंदी, जोधपुर, आमेर आदि जाया करते थे।

एक बार वृत्ति लेने वे आमेर नरेश जयसिंह से यहाँ आए। जयसिंह अपनी नयी रानी के प्रेम में इतने अधिक उलझ गए थे कि उन्हें दरबार में आने का भी अवकाश नहीं था। किसी को भी रंग में खलल डालने की आज्ञा नहीं थी। परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी संवाद नहीं हो पाता था। प्रधान महारानी (चौहानी रानी) इस घटना से अत्यधिक दुखी रहती थीं। जब परिवार के सदस्यों से उनकी भेंट नहीं हो पाती थी तो बिहारी से भेंट होने की बात कल्पनातीत थी। बिहारी ने किसी प्रकार एक दोहा महाराजा के पास पहुँचा दिया :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे का प्रभाव राजा पर इतना अधिक पड़ा कि वे बाहर आ गए। उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को भलीभांति पुरस्कृत किया और कहा कि यदि इस तरह के सुन्दर दोहे बनाकर लाओगे तो प्रत्येक दोहे पर एक मोहर पुरस्कार-स्वरूप मिलेगी। बिहारी ने महाराजा की आज्ञा स्वीकार कर ली। चौहानी रानी को जब इस बात का पता लगा तो वे आनन्द विह्वल हो गयीं। उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को 'कालापहाड़ी' नामक गाँव पुरस्कार में दे दिया।

कुछ ही दिनों बाद चौहानी रानी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम रखा गया—रामसिंह। रामसिंह के बड़े होने पर चौहानी रानी ने बिहारी के संरक्षण में उनका विद्यारंभ कराया। उस समय तक उन्होंने जितने दोहे लिखे थे उन्हें एक स्थान पर संगृहीत कर दिया गया। कुछ अन्य कवियों के दोहों का समावेश भी उस संग्रह में कर लिया गया। इस तरह रामसिंह की पढ़ायी का समारंभ हुआ। पर खेद है कि बिहारी का अपना किया हुआ संग्रह आज तक भी अनुपलब्ध है।

बिहारी सामंतीय अभिरुचि के रससिद्ध कवि थे। छोटी अवस्था से ही दरबारी परिवेश में रहने के कारण उनका उस रंग में रंग जाना स्वाभाविक था। इसलिए वे बार-बार नागर-संस्कृति की प्रशंसा करते हैं और ग्राम्य संस्कृति का उपहास। वस्तुतः चाहे शहर की ताज़गी हो या कला की उसे अपने को गाँव से जोड़ रखना होगा। किन्तु बिहारी के समय में गाँव और शहर में इतना अन्तराल था कि उसे पाटा नहीं जा सकता था। गाँव और शहर का अन्तर अब भी है। लेकिन दुर्भाग्यवश शहर गाँव पर अपना आक्रमण तो कर लेता है लेकिन गाँव शहर का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता। बिहारी के समय में गाँव अलग, नगर अलग। यही नहीं नागर संस्कृति में पले हुए लोग ग्राम्य-संस्कृति में पले हुए लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अलग-अलग इकाइयों में बँधी संस्कृति

ह्रासोन्मुखी और रूढ़िबद्ध हो जाती है। उस समय की नागर संस्कृति इतनी जड़ हो गयी थी कि ग्राम्य संस्कृति का मखौल उड़ाना तथा अपनी चारदीवारी में बन्द रहना उसका काम हो गया था।

ग्रामीण नायिका की सामान्य साज-सज्जा का उल्लेख करते हुए बिहारी उसकी मांसलता, गदराए हुए यौवन और 'खरे उरोजनि' के प्रति काफी दिलचस्पी लेते हुए दिखायी पड़ते हैं फिर भी उसे 'गँवारि' कहकर वे अपनी नागर संस्कृति की अभिव्यक्ति कर ही देते हैं। इस मनोवृत्ति के लोगों को गाँव में बसना कहाँ अच्छा लगता ! नगरों के विविध विलास गाँवों में कहाँ उपलब्ध होते ! एक नगर निवासिनी स्त्री गाँव में बस गयी है। संभव है उसका वहाँ विवाह हो गया हो। उसकी दशा पर व्यंग्य करते हुए बिहारी कहते हैं :

नागरि विविध बिलास तजि, बसी गवेंलिन माँहि।
मूढ़नि मैं गनिबी कि तूं, हूठ्यौ दै इठलाँहि॥

हे नागरी, अब तू नागरिकाओं का रंग-ढंग छोड़ दे। तुम गँवारों में बसी हुई है। नागरिकाओं की रहन-सहन न छोड़ने पर गँवार स्त्रियाँ तुम्हें बेवकूफ समझेंगी।

इसी प्रकार 'नागरता' के नाम पर गाँव वालों के हँसने का उल्लेख बिहारी की नागरक प्रवृत्ति का सूचक है :

सबै हँसत कर तारि दै नागरता कैं नावँ।
गयौ गरब गुन कौ सरब बसत गँवारे गाँव॥

नागरकों के सामने ग्रामीण मनुष्यों की हँसी उड़ाते हुए बिहारी अघाते नहीं :

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु को ब्यापार।
नहिं जानतु, इहिं पुर बसैं धोबी, ओड़ कुंभार॥
करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गंधी, मति अंध तूं, अतर दिखावत काहि॥
वे न यहाँ नागर बडे, जिन आदर तौ आव।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई गाँव गुलाब॥

उनके परिवेश और अभिरुचि का प्रभाव सतसई पर पड़ना स्वाभाविक था। सामंतीय परिवेश में सर्वाधिक लोकप्रिय विषय था—क्रीड़ापरक शृंगार। इस प्रकार के शृंगार-वर्णन में सतसई की अद्वितीयता सभी को विदित है।

बिहारी का भावजगत

बिहारी मूलत: शृंगारी कवि हैं। शृंगार की यह परम्परा उन्हें विरासत में मिली है। शृंगार के मूल में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण निहित है। वह सर्वाधिकपूर्ण और तादात्म्यमूलक होता है। कबीर ने भक्त और भगवान के बीच तादात्म्य स्थापित करने के लिए स्त्री-पुरुष का रूपक बाँधा है। भक्त कवियों का शृंगार काफी व्यापक और कर्म-सौन्दर्य से दीप्त है। उसमें एक प्रकार की लोकोन्मुखता है। सूरदास का प्रेम ऐकान्तिक होते हुए भी वन, कुंज, खेत, गौ-बछड़े आदि ग्राम्य परिवेश को लिए हुए है। पर रीतिकालीन कवियों को भक्त कवियों की शृंगारिकता, राधा-कृष्ण के नाम और उनकी क्रीड़ाओं के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से लगाव नहीं है। इसका कारण उनका अपना सामंतीय परिवेश है।

भक्त कवियों की रचनाएँ जनता के लिए थीं। उनका उद्देश्य जनमन का परिष्कार-संस्कार करना था। यही उनकी मूल्यवत्ता थी। उस समय धर्म एक संस्थान था और वह पूर्णत: पारलौकिक नहीं था। उसमें इस जीवन जगत की समस्याओं के लिए भी पर्याप्त अवकाश था। भक्तिपरक रचनाओं के लिए उन्हें किसी से कीमत नहीं वसूल करनी थी। जनता और भक्तों का रिश्ता मानसीयता पर आधारित था। भक्त बड़े जन-समुदाय के अंग थे।

रीतिकाल का राजाश्रय काव्य के लिए बहुत उपजाऊ नहीं सिद्ध हुआ। अभी तक कविता की ग्राहक जनता थी किन्तु अब उसके ग्राहक राजे-महाराजे और सामंत-सरदार हो गए। इस पूंजीवादी व्यवस्था में जिस प्रकार साहित्य की खरीद फरोख्त होती है उस प्रकार उस समाज में काव्य की खरीद के लिए अवकाश नहीं था। सामंतीय समाज की तत्कालीन स्थिति में कवि दरबार की शोभा होते थे। वे व्यापक जीवन से कटकर मनोरंजन की पूर्ति करते थे। दरबार के गायकों, नर्तकियों की तरह कवि भी दरबार को अलंकृत करता था। फिर भी उसका दर्जा कुछ ऊँचा था।

कवि जनता के लिए न लिखकर राजाओं और सामंतों के लिए लिखता था। रचनाएं एक प्रकार के फलात्मक उत्पादन का रूप ले चुकी थीं। उनके उपभोक्ता थे राजे-महाराजे। इस तरह कवियों और राजाओं का एक विचित्र संबंध कायम

हो गया। अपने विशिष्ट ग्राहक की अभिरुचियों को देखकर ये कविता लिखते थे। जिस ठाट-बाट और कीमती वस्त्र-भूषणों से लदी हुई उनकी जिन्दगी होती थी उसी प्रकार अलंकारों से पूर्ण और चमत्कारिक रचनाएँ उन्हें प्रिय थीं। इसके पहले भी कवियों को राज्याश्रय मिला था। पर वे राज्य के अन्य कार्यों में भी दिलचस्पी लेते थे; अतः वे बहुत कुछ स्वतन्त्र थे। कालिदास, चन्दबरदाई ऐसे ही कवि थे। किन्तु इस समय के कवि शुद्ध कवि थे। शुद्ध कविता लिखने के अतिरिक्त उन्हें और काम नहीं था। राजाओं की अभिरुचियों और कवियों के रिश्ते में कहीं भी दरार नहीं दिखाई पड़ती। उन्हें परतन्त्रता की कोई अनुभूति नहीं होती। यह अनुभूति कुंभनदास को हुई थी। उन्होंने सीकरी बुलाए जाने पर कहा था—'संतन को कहाँ सीकरी सों काम'। स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के बीच जब कोई संघर्ष नहीं रह गया तब नवीनता के लिए कोई भी गुंजायश निःशेष हो गई। ऐसी स्थिति में कवि भोगपरक भौतिकता का वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ा कर करने लगे। भोगपरक भौतिकता की केन्द्रीय विषय-वस्तु है नारी।

यहाँ नारी के प्रति वह प्रेम नहीं मिलेगा जो प्रेमी को व्याकुल-विक्षुब्ध बनाता हुआ भी कुछ दे जाता है, जिसमें प्रेमी और प्रेमिका के जीवन को नया आयाम मिलता है। कर्मोन्मुखी प्रेम के लिए भी यहाँ कोई जगह नहीं है। रीति-कवियों का प्रेम भौतिक धरातल से ऊपर नहीं उठ पाता। उसके प्रेम का मुख्य प्रेरक तत्त्व शरीरी सौन्दर्य है। वही उसकी परिणति भी है।

यों प्रेम में शरीर-सौन्दर्य की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर प्रेम शरीरी सौन्दर्य को लेते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाता है। शरीर से असंपृक्त होते हुए भी वह मानस जगत में अनेक प्रकार के स्पन्दनों को जगाता हुआ जीवित रहता है। जिस दिन उसकी विक्षोभन क्षमता समाप्त हो जाती है उस दिन वह भी मर जाता है। यों गहनानुभूति का प्रेम कभी नहीं मरता। घनानंद इसके उदाहरण हैं। पर केवल शरीर तक सीमित रहने वाले प्रेम का मुख्य लक्ष्य क्रीड़ा होती है। इस समय तक आते-आते सामंतीय परिवेश इसी तरह की जड़ता में खो चुका था। शरीरी सौन्दर्य के प्रति अनुरक्ति का एक उदाहरण देखिए :

तो तन अवधि अनूप रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागो रूप, दृगनि लगी अति चटपटी ॥

नायक नायिका के रूप पर मुग्ध हो गया है। वह अपनी बेचैनी का इजहार पत्र में कर रहा है कि तुम्हारे रूप की सीमा में सारे जगत का सौन्दर्य समाहित हो गया है। मेरी आँखें तुम्हारे रूप में उलझ गयी हैं। उसे देखने के लिए आँखों में चटपटी (विकलता) भर गयी है। कहना न होगा कि रूप के प्रति कितना अमान-

सिक और सपाट दृष्टिकोण है।

रूप के प्रति विद्यापति की विकलता देखते बनती है:

'जनम अवधि भर रूप निहारल नयन न तिरपति भेल।'

पूरे जीवन भर तुम्हारा रूप देखता रहा पर आँखें तृप्त नहीं हुईं। अतृप्ति का भाव कवि के अपने वैयक्तिक स्वरूप को प्रकट कर रहा है। पर बिहारी में ठस निर्वैयिक्तिकता है।

बिहारी ने प्रेम को चौगान का खेल कहा है। इस खेल में उनका मन खूब रमा है। प्रेम के चौगान को छिपाकर के जीता जाता है। इस लुकाछिपी के साथ कोई मूल्यवत्ता नहीं जुड़ पाती। रीतिकाल का नायक एक ओर सामाजिक प्रतिबन्धों का निर्वाह भी करता है और दूसरी ओर लुकछिप करके प्रेम का चौगान भी जीतना चाहता है। उसके प्रेम में वह आवेग नहीं है, जो सामाजिक प्रतिवन्धों को अपनी प्रखर धारा में बहा ले जाता। इसके ठीक विपरीत स्वच्छन्द काव्य-धारा के कवियों ने डंके की चोट कहा है:

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपन पौं झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥

—घनआनंद

स्नेह का रास्ता सीधा है। यहाँ सयानेपन, चतुराई के लिए कोई जगह नहीं है। इस रास्ते पर अपनापा छोड़कर सच्चे लोग चलते हैं। वे कपटी लोग जो निश्शंक नहीं हैं, इस रास्ते पर चलने में झिझक का अनुभव करते हैं।

यह रीति कवियों पर करारी चोट है। घनआनंद भी दरबारी कवि थे। पर उन्हें इस बात का एहसास था कि दरबार में उनकी स्वतन्त्रता कुंठित हो जाती थी। रीतिकाल के उत्तरार्ध में सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में बदलाव आ रहा था। ऐसी स्थिति में कवियों में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मूल्य-चेतना जागरित हुई। प्रेम में तथाकथित मर्यादाओं का टूटना सहज है, न टूटना ही असहज है। प्रेम के पथ में अवरोधक तत्त्वों—घर का ममत्व, लोकनिन्दा आदि—को नगण्य मानता है। इस प्रेम में भी रूपासक्ति है। पर प्रेमी इस आसक्ति को अतिक्रमित कर गया है।

प्रेम की ऊँचाई और आदर्श का उन्हें खूब पता है। सज्जन के आदर्शवादी प्रेम का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं:

चटक न छाँड़त घटत हूँ, सज्जन नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न, बरु फटै रँग्यो चोलरंग चीरु॥

सज्जन का स्नेह चोलरंग में रँगे चीर की भाँति फट जाने पर भी घटता

नहीं। पर इन स्फुट उक्तियों को परम्परा का ही आग्रह समझना चाहिए, बिहारी की अपनी मान्यताओं का नहीं। वे नागर रुचि के व्यक्ति थे और नागर संस्कृति को उन्होंने खुली अभिव्यक्ति दी है। इस अर्थ में वे अन्य रीति कवियों से कुछ भिन्न थे। जहां अन्य कवियों को पहले के संस्कारों का भय था वहां बिहारी इससे बहुत कुछ मुक्त थे। भयग्रस्त रीति कवियों ने एक ओर यथाअवसर ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की दुहाई दी है, वहाँ दूसरी ओर खुले शृंगार का वर्णन भी किया है। बिहारी में इस तरह का खास अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता। इसलिए उनकी सतसई में तत्कालीन सामंतीय प्रेम का जितनी ईमानदारी से चित्रण हुआ है उतनी ईमानदारी से अन्य समसामयिक काव्यों में नहीं हुआ है। जिस क्रीड़ापरक प्रेम का चित्र उन्होंने उरेहा है, वह पूर्णतः सामंतीय है।

पहले कहा जा चुका है कि रीति काव्यों के प्रेम का मुख्य आकर्षण केन्द्र शरीरी सौन्दर्य था। बिहारी ने इसका वर्णन चार रूपों में किया है—प्रभावात्मक रूप में, वस्त्राभूषणों के बीच में, घरेलू वातावरण में और परम्परा के मेल में।

प्रभावात्मक

जहाँ कवि रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर सौन्दर्य की प्रभान्विति का वर्णन करता है वहाँ पाठकों की ऐंद्रिय चेतना को सर्वाधिक उद्‌बुद्ध करने में शक्य होता है स्वयं सौन्दर्य किसी अंग विशेष में नहीं होता और न तो अंगों के सूक्ष्म संस्थान में ही उसकी सस्थिति स्वीकार की जा सकती है। सब मिलाकर वह ऐसा प्रभाव होता है जो हमारी रागात्मिका वृत्ति को उभाड़ देने में पूर्णतः समर्थ होता है। प्रभावमूलक सौन्दर्य का एक उत्कृष्ट चित्र देखिए :

अंग-अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

मुक्ताफल की छाया के तारल्य की भाँति अंगों में प्रतिभासित होने वाला लावण्य सौन्दर्य है। नायिका के अग-अग में छवि की चमक निरंतर उभरती जाती है। यद्यपि कवि का मुख्य कथ्य यही है फिर भी इतने से उसके लावण्य को उचित ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसकी छबि द्वारा उठती हुई तरंगों का जो परिवेश निर्मित किया गया है, उसके द्वारा उसकी तनुता भरी-भरी-सी लगती है, वही नायिका के सौन्दर्य को ऐंद्रिय और प्रभावापन्न बना सका है। इस दोहे की श्रेष्ठता किस पर निर्भर है, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित-सा ही रह गया। इसका उत्तर पाने के लिए एक दूसरा दोहा देखना पड़ेगा :

अंग-अंग नग जगमत, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ायें हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह॥

नायिका के अंग-अंग के (आभूषणों के) नग उसकी दीपशिखा-सी देह से जगमगाते रहते हैं। इसलिए दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला (प्रकाश) रहता है।

इस दोहे में भी देह की द्युति का ही वर्णन किया गया है। दोनों दोहों में छबि की लपटों या दीपशिखा की निर्धूम लौ के प्रभावों की व्यंजना की गयी है। पर जहाँ पहले का प्रभाव जीवन और जगत की अनुभूत छवियों से बाँध दिया गया है वहाँ दूसरे का प्रभाव एक मिथ्या और काल्पनिक सत्य से बाँधा गया है। पहले दोहे में छबि की लपट और उससे उत्पन्न प्रभाव के अन्तरसम्बन्धों को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि पाठकों के रागतत्व को वे सहज ही छू देते हैं। दूसरे दोहे में दीपशिखा-सी देह तथा प्रकाश का अन्तस्संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। इन सम्बन्धों को बाह्य संबंध ही कहा जाएगा। यह चमत्कार विधायक तो है पर राग विधायक नहीं। खेद है कि विशुद्ध प्रभावात्मक रूपचित्र बिहारी में कम है।

वस्त्राभूषण और सौन्दर्य

रीति-कवियों ने नायिका के सहज सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसके अलंकृत सौन्दर्य पर। रीतिकालीन वैभव-विलास के अनुकूल नायिकाओं का भी उन्मादक चित्र खींचना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था। वस्त्राभूषण नायिका के आभिजात्य के सूचक, शालीनता के रक्षक, सौन्दर्य के अभिवर्द्धक और नायक के प्रेम के उद्दीपक हैं। वे अपनी रंगीन छाया में नायिका में नवीन आकर्षण और मादकता भर देते हैं। इस तरह के सौन्दर्य चित्र बिहारी में ढेर-के-ढेर मिल जाएंगे। एक-एक करके कुछ उदाहरण देखिए :

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति॥

पँचतोरिया एक प्रकार का अत्यन्त बारीक महीन वस्त्र है। उसकी पूरी साड़ी तौल में केवल पांच तोले की होती है। इस वस्त्र के पहनने से नायिका की शोभा अधिक बढ़ जाती है। 'स्वभावरमणीयानि मण्डितानि अतिरमणीयैः भवन्ति।' स्वभाव से ही रमणीय नारी वस्त्राभूषणों से मंडित होने पर और भी रमणीय हो जाती है। धनिकों के किसी उद्यान में, किसी ऊंचे स्थान से, जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता था यह जलचादर कहलाता था। किसी-किसी जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीपावली बड़ी शोभा देती थी। इसी दीपावली को बिहारी ने 'जलचादर के दीप' कहा है। पँचतोरिया से आवृत नायिका के शरीर की पीताभ कांति जलचादर के पीछे रखे हुए दीपकों की भांति अगर-मगर करती हुई शोभित हो रही है।

यहाँ पर भी वही पुराना प्रश्न उठता है कि यदि सौन्दर्य का यह चित्र श्रेष्ठ है तो क्यों? इस क्यों का उत्तर ही मूल्यांकन है, छंदों का अन्वय मात्र न तो आलोचना है और न मूल्यांकन। श्वेत पंचतोरिया वस्त्र से झाँकता हुआ नायिका का पीताभ सौन्दर्य उसी प्रकार से शोभन प्रतीत होता है जिस प्रकार से जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीप शिखाएँ। इस चित्र की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर है कि कवि वास्तविकता से कहाँ तक संबंध स्थापन कर सका है। और स्वयं वह वास्तविकता किस प्रकार की है। नायिका की छबि मानसिक वास्तविकता है और जलचादर का दीप भौतिक वास्तविकता। निश्चय ही इनके सम्बन्ध स्थापन में कवि को सफल कहा जा सकता है। अप्रस्तुत ने नायिका के पारदर्शी सौन्दर्य को जिस ढग से प्रत्यक्षीकृत किया है वह सराहनीय है।

प्रभावात्मक चित्र की अपेक्षा यह अधिक रंगीन और रंजक है किन्तु इसे उतना संवेदनात्मक नहीं कहा जा सकता। उतना संवेदनात्मक का अर्थ यह नहीं है कि यह संवेदनात्मक नहीं है। यहाँ केवल संवेदना के दर्जे का सवाल है।

छिप्यौ छबीलौ मुँहु लसै नीलैं अंचल-चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी कैं नीर॥

इस सौन्दर्य चित्र में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच जो संबंध स्थापन किया गया है, वह भी कृत्रिम ही है। पर इसमें साध्यवसान संवेदना के रूप में हुआ है। इसलिए इसकी संवेदनात्मक गहराई भी श्लाघ्य है। उत्प्रेक्षा के रूप में जो अप्रस्तुत ले आया गया है, वह पहले उदाहरण में ले आए गए अप्रस्तुत की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्वजनीन है। पर पहले उदाहरण की तरह यह न ही रंजक है और न प्रभावोत्पादक। बात यह है कि इसका अप्रस्तुत लोकसिद्ध है जो सामान्यतः उपमा के क्षेत्र में गृहीत होता है।

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता बिमल-जल उछरत जुग मीन॥

इसका अप्रस्तुत भी संभावनामूलक है। लेकिन संभावनामूलक अप्रस्तुत में भी दर्जे का अन्तर स्वीकार करना होगा। पहले और दूसरे उदाहरणों की अपेक्षा इसका अप्रस्तुत प्रस्तुत का ऐन्द्रिय बिम्ब उपस्थित करने में असमर्थ है। उछलते हुए 'युगमीन' चमकती हुई चंचल आँखों का दृश्य खड़ा करने में निर्बल प्रतीत होते हैं।

इस तरह के रूप-चित्रों में बिहारी की प्रतिभा जहाँ रम सकी है वहाँ के चित्र निश्चय ही संवेद्य बन पड़े हैं।

परम्परा

यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा फिर भी उनकी दृष्टि से लक्षण ओझल नहीं थे। उन पर रीति परम्परा और शास्त्रीय रूढ़ियों का गहरा प्रभाव था। नायिका का नख-शिख रूप वर्णन संस्कृति कवियों का भी प्रिय विषय था। रीतिकाल में तो नख-शिख वर्णन की अत्यधिक बहुलता दिखाई पड़ती है। बिहारी ने नख-शिख वर्णन क्रमबद्ध रूप में नहीं किया है पर अधिकांश रूपाधायक अवयवों का जो चित्रण प्रस्तुत किया है वह परम्परामुक्त ही है। कुछ उदाहरण देखिए :

केश :

सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार।
गनतु न मन पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार॥

मुख :

सूर उदित हूँ मुदित मन मुखु-सुषमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल चखनु चकोर॥
पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन-ओप-उजास॥

कटि :

ज्यों-ज्यों जोबन जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति।
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि छपा छीन परति नित जाति॥

उपर्युक्त उदाहरणों में (अंतिम को छोड़कर) जिन अवयवों का सौन्दर्य वर्णन हुआ है, वे हमारे सौन्दर्य-बोध को किंचित् मात्र भी उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते। इनमें बाह्य वास्तविकताओं से जो संबंध-स्थापन हुआ है वह कृत्रिम है। सूर्योदय होने पर भी चकोर का मुख-सुषमा की ओर देखना चमत्कारमूलक है, संवेदनामूलक नहीं। यह चमत्कार भी घटिया दर्जे का ही कहा जाएगा। 'पत्रा ही तिथि पाइए' के अन्तस्संबंध तो वास्तविकता से और भी दूर है इसलिए उसका सौन्दर्य उर्दू शायरी की विदग्धता का भी अतिक्रमण कर जाता है। उसी प्रकार यौवन को ज्येष्ठ का दिन और कटि को रात्रि कहना कितना असंगत और यथार्थ जगत से कितना दूर है! काव्य में प्रयुक्त अप्रस्तुत हमारे अनुभव जगत से जितने दूर होंगे, प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सम्बन्ध-स्थापन उतना ही कृत्रिम होगा, काव्य-पाठकों को रसावेश की स्थिति में ले आने में वह उतना ही असमर्थ होगा। 'हरिनी के नैनान', 'केलितरुन' आदि तो पिटे-पिटाए अप्रस्तुत हैं ही।

संयोग

रीति-काव्यों में संयोग-शृंगार के प्रति जितनी ललक दिखायी पड़ती है, उतनी वियोग-शृंगार के प्रति नहीं। संयोग-शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण है जो अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं, चेष्टाओं वाचिक और शारीरिक विकारों, मानसिक दशाओं आदि में प्रस्तुत होता है। इस प्रसंग में कवि-परम्परा से सुरति, षट्ऋतुवर्णन, विहार, मद्यपान, क्रीड़ा, अष्टयाम आदि का वर्णन करते आए हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श संलाप आदि के सहारे संयोग का महल खड़ा किया जाता है. इसलिए इनका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का—विशेष रूप से बिहारी का मन क्रीड़ापरक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का भूरिशः उल्लेख हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-वर्णन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उनके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

भंगिमाएँ

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। सचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संभोगेच्छा सूचक होती हैं काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलेंगे। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से अर्थ दिया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए :

> ज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
> त्यौं गुलालमुठी झुठी झझकावत प्यो जाइ॥

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह ढाँपती है, कुछ झुक जाती है, फिर हँस देती है, आखिर में झल्ला भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उसे देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए :

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकर ने लिखा है—'नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते-चलते चिकना हो गया है और दूसरा भाग कंकड़ीला है। नायक, प्रेम के मारे नायिका को तो अच्छी ढुरहरी पर लिवाए जाता है, और स्वयं उसके पाँव में कंकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से यह बात ज्ञात करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित होकर, सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है, नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार सिमट कर चलता है कि उसको कंकड़ियाँ न गड़ें, पर नायिका का वह नाँक चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जान-बूझकर उसके चिढ़ाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है और वह फिर उसी प्रकार नाक चढ़ाकर सीबी करे।'

यहाँ भी 'सीबी' का व्यापार निश्चेष्ट है, पर नायक को उससे सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए :

(१) बिहँसति सकुचति सी, दिऐं कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँह॥
(२) बड़त निकसि कुचकोर-रुचि कढ़त गोर भुज मूल।
मन लुटि गौ लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल॥
(३) अहे दहेंड़ी जिन धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकैं है छीकैं छुवै ऐसैंई रहि नारि॥

पहले उदाहरण पर टिप्पणी देखिए—

स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त झीना वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए गोपन क्रिया बहुत आवश्यक नहीं है। यह कामजन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है, विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर से निकल रही है। इसके तट पर बिहारी जैसे रसिकों का जमघट लगा रहता होगा। अतः शालीन नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। विद्यापति की सद्यःस्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है अतः कवि को उसके नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई शालीनताजन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई। यह शुद्ध लज्जा अथवा शालीनता का उदाहरण है। इसे 'हाव' से सर्वदा भिन्न समझना चाहिए। इसलिए इस तरह की भंगिमाओं को मैंने

स्वाभाविक कहा है।

दूसरे उदाहरण में नायक ने नायिका को फूलें चुनते समय देखा है। इस क्रिया में 'हाथ को ऊँचे करने तथा सीवा को पीछे की ओर झुकाने में उसके कुच आगे को निकल आए, एवं अंचल के सरकने से भुजमूल तथा उदर कुछ उघर गए।' इस अवस्था में उसकी त्रिबली देखकर नायक का मन लुट गया।

तीसरे उदाहरण में छीकें पर दहेड़ी रखने का नायिका का व्यापार नायक को अत्यन्त प्रिय लग रहा है। इसलिए वह कहता है कि तू दहेड़ी छीकें पर न रखो और न उतारो। छीकें को अच्छी तरह से छू रखो। इस स्थिति में रहने से नायक को तनाव के कारण उसके वक्ष का एन्द्रियोत्तेजक उभार देखने का शुभ अवसर मिलता रहेगा। यह भगिमा भी छीकें के छूने से अपने आप बन गयी है, पर नायक को उसमें रंजन का एक मौका मिल जाता है।

उपर्युक्त भंगिमाओं में फाग के अवसर पर जो भंगिमा दिखायी गयी है वह सर्वाधिक सुन्दर और संवेद्य है। वह अपेक्षाकृत अधिक गत्यात्मक है, इसीलिए श्रेष्ठ भी है। उनमें कवि ने जीवन के यथार्थ को एक ऐसे प्रसंग में चित्रित किया है कि वह बहुत ही स्वाभाविक तथा संवेदनापूर्ण बन गयी है। शेष चित्रों में स्नान करके निकलती हुई नायिका अपनी शालीनता (माडेस्टी) के कारण पाठकों को प्रिय लगती है। फूल लोढ़ने का चित्र ऐंद्रियोत्तेजक (सेक्सुअल) हो गया है तो दहेड़ी रखने का चित्र ग्राम्य।

पहले ही कहा जा चुका है कि संभोगेच्छा प्रकाशक सचेष्ट व्यापार 'हाव' कहे जाते हैं। प्रेमोद्दीपन के कार्य में इसका विशेष महत्त्व है।

हाव

कुछ आचार्यों ने हाव के कई भेद बतलाए हैं, पर वे भ्रामक हैं। जैसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है, हाव को विभाव के अन्तर्गत ही मानना अधिक संगत है। हाव एक प्रकार का उद्दीपन है जो प्रेमी के हृदयस्थ रतिभाव को उद्दीप्त करता है। संयोग शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यह 'प्ले इंस्टिक्ट' की कोटि में रखा जायगा। प्रेम का यह क्रीड़ापरक रूप सामंतीय जीवन की विलासिता के अनुरूप ही था। इसलिए बिहारी ने इस तरह के वर्णनों में खुलकर रुचि ली है।

देखिए :

(१) त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली, बली की ओट कैंचुली भली बिधि चाहि॥

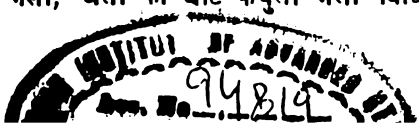

(२) देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु-अँगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन मैं सकुचि, बैठी चितै लजाइ ॥
(३) ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाइ ।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाइ ॥
(४) बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करैं भौंहनु हसै, दैन कहै, नटि जाइ ॥
(५) भौंहनु त्रासति, मुंह नटति, आँखिनु सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति ॥

उपर्युक्त सभी उद्धरणों के व्यापार संभोगेच्छा सूचक हैं। चित्रों की सफाई पर भी मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। पहले उदाहरण के व्यापार की स्पष्टता—त्रिवली और नाभि का प्रदर्शन—बहुत आकर्षक नहीं कही जा सकती। (आजकल तो त्रिवली नाभि का प्रदर्शन आधुनिक होने की निशानी मानी जाती है। यदि यह सांस्कृतिक सुरुचि का द्योतक है तो बिहारी की नायिका को दोषी ठहराना आलोचक का पिछड़ापन माना जायगा, क्यों?) जो लोग भारतीय परंपरा का सामान्य ज्ञान रखते हैं वे उपर्युक्त चित्रण की सुरुचिपूर्णता में संदेह प्रकट करेंगे। उदाहरण सं० २ की नायिका के व्यापार अधिक जटिल, बौद्धिक तथा सांकेतिक हैं। तीसरे दोहे की सांकेतिकता थोड़ी और सूक्ष्म है। चौथे की प्रेमक्रीड़ा में नाटकीय तत्त्व की प्रचुरता के साथ प्रेम की गहराई भी परिलक्षित होती है। पाँचवें में क्रीड़ात्मकता अधिक है पर परस्पर विरोधी क्रियाओं द्वारा इस चित्र को भी थोड़ा गूढ़ बना दिया गया है। पहले दोहे में जो चित्र उरेहा गया है उसकी अपेक्षा अन्य चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं क्योंकि उनके बोध के लिए अपेक्षाकृत व्यापक बौद्धिक मानसिक संघटना की आवश्यकता है। जिस चित्र के लिए, उसके बोध के लिए, जितने व्यापक मानसिक संघटना की जरूरत होगी वह उतना ही प्रभविष्णु और संवेदनात्मक होगा।

प्रेमक्रीड़ा के अन्य रूपों में दाम्पत्यक्रीड़ा, चोरमिहीचनी का खेल, पारस्परिक आलिंगन-चुम्बन, आँख-आँख का खिलवाड़, घूँघट की ओट की चोट आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें दांपतिक क्रीड़ा के चित्र बहुत ही मनोरम और आकर्षक बन पड़े हैं :

(१) हँसि ओठनु बिच करु उचै, कियैं निचौहैं नैन ।
खरैं अरैं प्रिय के प्रिया लगी बिरी मुख दैन ॥
(२) नाक मोरि नाहीं करै नारि निहोरैं लेइ ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ ॥

पहले दोहे में विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका की चेष्टा वर्णित है। अब उसे नायक

का इतना अधिक विश्वास हो गया है कि वह उसे पान खिलाने के लिए पास जाने लगी है। ओठों के बीच हँसकर, हाथ ऊँचा और आँख नीची करके प्रिय के मुख में पान देती है। मध्यवर्गीय शालीनता से अपरिचित व्यक्ति इसके पूर्ण सौष्ठव को स्वायत्त नहीं कर सकता। संकोच, लज्जा और विश्वास का संयम चित्र को आत्यंकिन ऐन्द्रिय मनोरमता प्रदान करता है।

दूसरे चित्र में नायक नायिका को पान खिलाना चाहता है। वह नाक सिकोड़ती हुई कहती है, नहीं नहीं मैं नहीं खाऊँगी। नायक बेचारा बार-बार आग्रह करता है। नायिका उसका पान मुँह में लेती हुई ऐसा भाव प्रकट करती है मानो उस पर बड़ी कृपा कर रही है। इसी समय नायक उसके कोमल अधरोष्ठों को छू देता है।

इन दोनों चित्रों के सारे व्यापार स्वाभाविक हैं, जीवन से गृहीत हैं, इसलिए इनका सौन्दर्य भी मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही बन पड़ा है।

प्रेम-क्रीड़ा के लिए चोरमिहीचनी खेल की भी व्यवस्था की गई है। इस खेल का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। यह एक बहाना मात्र है। जिसमें गाढ़ा-लिंगन की खुली छूट मिल जाती है।

दोऊ चोरमिहीचनी, खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाय के, छुवत हियैं लपटात॥

अटा पर चढ़ी हुई नायिका की क्रीड़ा का एक शोभन रूप देखिए :

छिनकु चलति, ठठकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति छटा, बिज्जुछटा सी नारि॥

बिजली की ज्योति की तरह लावण्यवती नायिका घिरे हुए बादलों की शोभा निहार रही है। प्रियतम के गले में बाँह डालकर क्षणभर कभी चलती है और क्षण भर कभी ठिठक जाती है। 'भुज प्रीतम गलं डारि' की व्यंजना घटा के प्रसंग में कितनी गूढ़ और मनोवैज्ञानिक बन पड़ी है।

क्रीड़ा में चतुराई का बहुत बड़ा योग होता है, उसका भी एक उदाहरण देखिए :

लरिका लैबे कैं मिसनु लँगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ॥

अब चुंबन का एक दृश्य देखिए :

अँगुरिनु उचि, भरुभीति दै उनमि चितै चख लोल।
रुचि सों दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल॥

ऐसे सुयोग नगर निवासी नायक-नायिका को ही सुलभ हो सकते हैं।

बिहारी सतसई में प्रेम-क्रीड़ा का बहुत बड़ा भार आँखों के मत्थे पड़ा है। प्रेम व्यापार में है भी आँखों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग। ये आँखें भी साधारण आँखें नहीं हैं। वे 'रस सिंगार मंजनु किए, खंजन मंजन दैन' है। दूसरे शब्दों में हाव, भाव, कटाक्ष आदि में पूर्ण दक्ष है। 'प्रेम को मादक बनाने के लिए नेत्रों का बड़ा होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसका अपांग वीक्षण' इसीलिए एक दोहे में सखी नायिका की प्रशंसा करती हुई कहती है :

अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछु, जिहिं बस होत सुजान॥

इस तरह की आँखों के कुछ व्यापार द्रष्टव्य हैं :

(१) इती भीरहूँ भेदि कै कितहूँ ह्वै इत आइ।
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाइ॥

(२) कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥

(३) जुरे दुहुन के दृग झमकि रुके न झीनैं चीर।
हलकी फौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर॥

भीड़-भम्भड़ में लोगों की आँखें बचाकर अपने प्रिय से आँखों आँख बात कर लेना, मन की रीझ-खीझ को संकेतपूर्वक व्यक्त कर देना, पारदर्शी घूँघट के पार जाकर प्रिय की आँखों से मिल लेना—आँख के इन व्यापारों से सभी परिचित हैं।

सुरतिमूलक मुद्राएँ

सुरतिमूलक मुद्राओं के चित्र भी सतसई में ढेर-के-ढेर मिल जाएँगे। क्रीड़ाओं की अंतिम परिणति भी तो यही है—अवकाश-भोगी सामंतों के जीवन का चरम लक्ष्य। सामंतीय नायक की एक उक्ति देखिए—और दूसरे की उक्ति यह हो भी नहीं सकती :

चमक, तमक हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि॥

अर्थात् जिस रति में चमक, तमक, लपट, झपट आदि हों वही रति मुक्त के समान परममोददायिनी है। दूसरी मुक्ति तो अनिष्टकारिणी है।

कुछ मुद्राएँ देखिए :

(१) सकुचि सरकि पिय निकट तैं मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुँहु मोरि ॥
(२) समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति आइ ॥

इन पर टिप्पणियाँ व्यर्थ हैं।

सात्विक अनुभाव

संयोगकालीन अवस्था में आन्तरिक आनंद के फलस्वरूप, जो स्वेद, कंप, रोमांच, वैवर्ण्य आदि दिखाई पड़ते हैं उनकी गणना सात्विक अनुभावों में की जाती है। 'आत्मा में अन्तर्भूत रस को प्रकाशित करने वाला अन्तःकरण का धर्म विशेष 'सत्व' कहलाता है। इसी सत्वगुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं।' यह अन्तःकरण का धर्म विशेष सभी रसों में दिखाई पड़ता है, पर प्रत्येक के अपने-अपने कारण होते हैं।

इन सात्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव प्रायः प्रिय के दर्शन, श्रवण और स्पर्श से होता है। इन सभी अवस्थाओं में स्नायुगत कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं कि उनका प्रकाशन स्वेद, कंप आदि के द्वारा देखा जाता है। मानस द्वारा दर्शन, श्रवण आदि से जिन प्रभावों को ग्रहण किया जाता है वे हमारे शारीरिक संघटन को अनेक ढँग से प्रभावित करते हैं। परिणामतः उनकी प्रतिक्रियाएँ अनेक रूपों में देखी जाती हैं। प्रेम के सम्बन्ध में स्पर्श का अधिक प्रभाव देखा जाता है। 'स्पर्श त्वगिन्द्रिय का गुण है। त्वचा स्नायुतंतुओं, धमनियों और आँतों आदि की रक्षा ही नहीं करती, बल्कि बाह्य संसार से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्राचीन और मूलभूत ज्ञानेन्द्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियों का संदेश तुरन्त ही मस्तिष्क तक पहुँचाती है। यौन आवेगों की स्थिति स्पर्श ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम सम्बन्धी संवेगों के संदर्भ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत प्रवाह सारे रोमकूपों में विचित्र सिहरन भर देता है।'

वेणी गूँथने के प्रसंग में स्पर्श-जन्य प्रभाव का एक दृश्य देखिए :

रहौ, गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान, जे नीठि सुकाए बार ॥

नायक नायिका की चोटी गूँथता है। स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आया है और नायिका की वेणी के बाल भींग गए हैं। अपना सात्विक छिपाने के निमित्त नायिका कहती है—रहने दो, गूँथ चुके वेणी, देख लिया तुम्हारा ढँग। इतनी

कठिनाई से मैंने बाल सुखा रखे थे, वे फिर गीले हो गए। इसमें प्रेम की जो व्यंजना की गयी है वह श्लाघ्य है। पर सात्विक की किंचित् अस्वाभाविकता के कारण यह उतना प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है।

एक साथ ही कंप, स्वेद, रोमांच और अश्रु सात्विक अनुभावों को एक अत्यन्त स्वाभाविक संदर्भ में देखिए :

खेलन चोर मिहीचनि आजु, गई हुती पाछिले द्यौस की नाई।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाई॥
एक ही भौन दुरे इक संग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ़्यो, तनरोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं॥

—मतिराम

मतिराम के सवैये में बहुत से सात्विकों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है, इसलिए इसका काव्य-सौन्दर्य श्रेष्ठ नहीं है। इसकी श्रेष्ठता नायिका की मनोदशा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण कराने में है, दो मनःस्थितियों की तुलना में है, उनके अन्तस्सम्बन्धों के स्थापन में है। पिछले ही दिनों की भाँति नायिका चोर मिहीचनी खेलने के लिए आज भी गयी थी। लेकिन आज के खेल में उसे एक अभूतपूर्व अनुभूति हुई। इस अनुभूति के कारणों को समझने में वह असमर्थ है, क्योंकि पिछले दिनों तो वह बराबर चोर मिहीचनी खेला करती थी, पर इस तरह का कुछ भी नहीं हुआ। आज क्या बात हो गयी? उसके साथ एक ही घर में नायक छिप गया और जान-बूझकर अपना शरीर उसके शरीर से छुला दिया। शरीर का स्पर्श करते ही उसे रोमांच हो आया, शरीर पसीने-पसीने हो गया, आँखों में आँसू की बूँदें छा गयीं। इस तरह का स्पर्श तो बहुत होता रहा है, पर आज ही क्यों ये सात्विक उभर आए? ये सात्विक उस अवस्था विशेष के सूचक हैं जिसमें प्रेम विकार अनजाने ही उत्पन्न होने लगते हैं। नायिका है भी तो अज्ञात यौवना। किन्तु बिहारी के दोहे और मतिराम की सवैये का तुलनात्मक विवेचन नहीं किया जा सकता। मतिराम ने उक्त सवैया अज्ञात यौवना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में नायिका के अज्ञान और भोलेपन को बहुत ही स्वाभाविक ढँग से व्यक्त करता है। यह भोलापन पाठकों को प्रसन्न कर देता है। उनके अन्तर्मन को गुदगुदा देता है, उनकी ऐंद्रिय चेतना को तीव्र बना देता है। बिहारी का दोहा दूसरे परिप्रेक्ष्य की सृष्टि करता है, उसमें व्यापकता नहीं है वक्रता है, जो प्रेमाधिक्य की व्यंजना में सक्षम है। एक दूसरे दोहे में बिहारी ने स्पर्शजन्य सात्विक की जो सृष्टि की है वह अपेक्षाकृत गहरी संवेदना उत्पन्न कर सकी है :

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियो हियौ सँग हाथ कैं हथलेयैं ही हाथ॥

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर दुलहिन दूल्हे ने स्वेदरूपी जल और रोमांच रूपी कुश ग्रहण करके हाथ के साथ ही अपना हृदय भी एक दूसरे को सौंप दिया। पाणिग्रहण की लौकिक रीति (जल और कुश द्वारा संकल्प होने की क्रिया) के पूर्व ही दोनों मानसिक संकल्प से एक दूसरे के हो गए। मानसिक चेतना और उसकी शारीरिक प्रतिक्रिया का कितना सूक्ष्म चित्रण है। इसमें व्याप्ति तो नहीं है पर संवेदना की गहराई जरूर है।

अब दर्शनजन्य सात्विक का उदय देखिए :

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरसि कैं, खरैं लजाने लाल॥

उँगुली पर गोवर्धन धारण किए हुए श्रीकृष्ण ने ज्यों ही किशोरी राधिका को देखा त्यों ही उन्हें कंप सात्विक हो आया। इस कमबख्त सात्विक ने धोखे का काम किया—बड़े ही असमय में दिखाई पड़ा। हाथ के हिलते ही पहाड़ भी हिला और सारा ब्रज बिकल हो उठा। श्रीकृष्ण लज्जा से लाल हो गए।

श्रवणजन्य सात्विक का उदाहरण शेष रह गया, उसे भी देखिए :

आयौ मीत बिदेस तैं काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि हुलसी बिहँसी हसीं दोऊ दुहुनु निहारि।।

इतना सुनना था कि मित्र विदेश से आ गया है दोनों प्रेमिकाएँ प्रफुल्लित हुईं, बिहँस पड़ीं, फिर एक दूसरे को देखकर हँसने लगीं। प्रिय के प्रति जो मानसिक लगाव है उससे उनका खिल जाना सात्विक ही है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसमें कुछ खामी दिखाई पड़ सकती है पर प्रफुल्लता भी तो अन्तःकरण के धर्म से ही संबद्ध है।

बिहारी ने कुछ ऐसे सन्दर्भों की भी सृष्टि की है जिनमें सात्विकों का प्रादुर्भाव न तो दर्शन से होता है, न श्रवण से और न स्पर्श से। केवल सामीप्य बोध की भावना ही में सात्विक अनुभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं। यह विशिष्ट संदर्भ सात्विकों को जो परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है वह काव्य को सहज ही औदात्यपूर्ण बना देता है :

मुँहु उघारि प्यौं लखि रहतु रहौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥

इस दोहे में उस नायिका का चित्र अंकित किया है जो सोने का बहाना करके,

मुंह ढँककर, आँखें बन्द करके सोई हुई है। नायक ने वास्तविकता जानने के लिए उसका मुंह उघार कर देखा। अब नायिका से रहा नहीं गया, उसके ओंठ फड़क उठे, रोएँ भरभरा गए, आँखें खुल गयीं और प्रियतम की आँखों से जा मिलीं।

नायिका ने नायक को देखा नहीं है। संभवतः मुंह उघार कर देखते समय नायक के हाथों का स्पर्श भी नहीं हो पाया है। पर मन-ही-मन वह उसके आत्यंतिक सामीप्य का अनुभव कर रही है। केवल इस मनोभाव ने उसके संवेगों को इस तरह आन्दोलित कर दिया कि उसके शरीर पर उसके प्रतीक रूप में अनुभाव अंकित हो उठे।

इस प्रसंग में 'देव' का एक सवैया उद्धृत किए बिना यह प्रकरण कुछ अधूरा-सा लगता है :

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाए॥
बोलिए बोल, सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाए।
यों सुनि ओछे उरोजन पै, अनुराग के अंकुर से उठि आए॥

गौना जाने वाली दुलहिन को सखियों ने बहुत कुछ सीख दी, कहा कि सखी तुम हँस कर के कोमल वाणी से बोलना जो प्रियतम के मन को भाने वाला हो। इतना सुनना था कि मन का अनुराग रोमांच के रूप में फूट पड़ा। 'अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि दोनों में एक साथ चेतना उत्पन्न हो जाती है।' वास्तव में यह कल्पनाजन्य अनुभव का एक रूप है। प्रियतम का काल्पनिक सामीप्य रोमांच उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है। कहना न होगा कि देव का यह अनुभव चित्र काफी गूढ़ और संवेगात्मक है। पर बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कई अनुभव जो एक दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध हैं अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय और संवेद्य हैं।

कल्पनाजन्य अनुभव की तरह स्मृतिजन्य अनुभाव भी होता है। स्मृतियाँ कई तरह से जागृत होती हैं। काव्य में प्रायः देखा जाता है कि प्रिय से सम्बद्ध कोई वस्तु पाकर प्रेमी पुलकित हो उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रिय मिल गया हो। स्वयं वस्तु कोई प्रेमपरक चेतना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। उस वस्तु पर प्रिया या प्रेमी अपने प्रिय की भावना का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कर लेता है।

एक अंतरंग सखी ने नायिका को बहिरंग सखियों के बीच ठाकुरजी का प्रसाद कहकर एक माला दी। नायक की माला पहनते ही नायिका को रोमांच हो आया। उसे देखकर परिहास करती हुई बहिरंग सखी कहती है :

मैं यह तोही मैं सखी, भगति अपूरब, बास।
लखि प्रसाद माला जु भौ, तनु कदंब की माल॥

इस स्मृति जन्य अनुभाव को कहीं-कहीं बिहारी ने और भी सूक्ष्म स्तर पर देखा और परखा है :

ऊँचै चितै सराहियतु, गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु॥

इस दोहे के 'अवतरण' में रत्नाकरजी ने बतलाया है कि नायिका अटारी पर चढ़े हुए कबूतर उड़ाने वाले नायक को देखकर पुलकित होती है। पर नायक को देखने का अनुमान नहीं भी किया जा सकता है। नायिका केवल अपने प्रिय के कबूतर को देखकर ही पुलकायमान हो सकती है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता की दृष्टि से यह कल्पना अधिक रमणीय प्रतीत होती है।

हास-परिहास, बन-बिहार और मदपान

प्रेम या शृंगार के प्रसंग में हास-परिहास, बन बिहार और मदपान का वर्णन प्रायः होता आया है। हास-परिहास में कभी तो हृदय की उन्मुकता प्रेमी युग्म को समीप ले आती है और कभी हृदय की अन्य प्रकार से अव्यक्त भावनाएँ वक्रतापूर्ण ढँग से व्यक्त हो उठती हैं। बिहारी से इस तरह के हास-परिहास की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। बन-बिहार के उन्मुक्त वातावरण में प्रेम को जो सांद्रता मिलता है, उसकी कमी भी बिहारी में मिलेगी। इन दोनों की अपेक्षा मदपान के वर्णन अधिक हैं। फिर भी हास-परिहास और बन-बिहार की झलकी मिल ही जाएगी :

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हो, गोरसु चाहत नाँहि॥

परिहास का यह एक अच्छा उदाहरण है। नायिका कहती है—कुछ तो शर्म करो, बेकार में क्यों घेर रहे हो, घर जाने दो। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ। तुम इन्द्रिय रस खोजते फिरते हो, गोरस नहीं। इस परिहास में नायिका ने अपना गूढ़ मन्तव्य भी प्रकट कर दिया।

अब परिहास का एक दूसरा उदाहरण देखिए :

छुवै छिनुगी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंत सुनि को, बलि, तुम्हैं पत्याइ॥

नायक नायिका के भुजों पर रीझ गया है। वह नायिका की सखी से प्रार्थना

करता है कि उसे दिखा दे। सखी नायक का परिहास करती हुई कहती है कि तुम्हारी रीति बड़ी बेढब है। तुमने उँगली छुआ नहीं कि पहुँचा पकड़े। बलि-वामन का वृत्तान्त सुन करके भला तुम्हारा विश्वास कौन करेगा ?

चलित ललित श्रम स्वेद कन कलित अरुन मुख तैं न।
बन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाए नैन॥

यह बन बिहार का अति सामान्य उदाहरण है। हाँ, मदपान में बिहारी का मन अपेक्षाकृत अधिक रमा है :

(१) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥
(२) निपट लजीली नवल तिय बहकि बारूनी सेइ।
त्यों त्यों अति मीठी लगति, ज्यों ज्यों ढीठ्यो देइ॥
(३) खलित बचन अधखुलित दृग ललित स्वेद-कन-जोति।
अरुन बदन छबि मदन की खरी छबीली होति॥

मद का मुख्य प्रयोजन है रति क्रीड़ा को मादकतापूर्ण बनाना। मद के कारण ललक-ललक कर लपटना, लजीली होने पर भी लज्जा को छोड़ रति क्रीड़ा में ढीठ होना, शोभा में मदजन्य निखार का आना आदि ऐसी स्थितियां हैं जो तत्कालीन रसियों की आकांक्षाओं के अनुकूल पड़ती थीं। इसलिए सतसई में इनका सन्निवेश भी आवश्यक हो गया।

वियोग

सामंतीय वातावरण का प्रभाव बिहारी के वियोग-वर्णन पर इस तरह पड़ा है कि मान और खंडितादि चित्रों की सतसई में बहुलता हो गई है। वियोग के चार प्रकारों—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और मरण में खंडितादि के वर्णन मान के ही अन्तर्गत आएंगे। पूर्वानुराग को कुछ आचार्यों ने अभिलाष मात्र मानकर गंभीर वियोग के अनुपयुक्त समझा है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अभिलाष मात्र ही नहीं ठहर सकता। थोड़ी देर के लिए इसे मान भी लिया जा सकता है किन्तु कुछ समय के अनंतर इसमें वियोगात्मक तीव्रता का आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है। पहले हम मान का ही प्रसंग लेंगे।

मान*

आचार्यों के मतानुसार मान के दो भेद हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान।

* नायिका का नायक से सकारण या अकारण रूठना 'मान' है।

प्रणयमान निर्हेतुक माना गया है, यह स्मिति आदि से शमित हो जाता है। यह मुख्यतः क्रीड़ात्मक है, इसे मान नहीं, मान का नाटक समझना चाहिए। अतः वियोग की किसी भी वास्तविक स्थिति का आविर्भाव इससे संभव ही नहीं है। ईर्ष्यामान में मूलतः ईर्ष्या रहती है पर इसमें खीझ, क्लेश, अभिमान, क्रोध, घृणा, उदासीनता, अवसाद आदि अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का समावेश हो सकता है।

प्रणयमान का एक मनोरम खेल देखिए :

सतर भौंह, रूखे बचन, करत कठिनु मन नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि॥

सखी ने किसी प्रकार नायिका को मान करना सिखाया है पर अपनी असमर्थता का इजहार करती हुई नायिका कहती है कि हे सखी मैं किसी तरह भौंहों को टेढ़ी, बातों को रुक्ष और मन को कठोर बना लेती हूँ, किन्तु हाय मैं क्या करूँ, उनको देखकर आँखों में हँसी आ जाती है! ऊपर कहा जा चुका है कि इस तरह के मान को वियोग के अन्तर्गत रखना परम्परा का अनुरोध ही समझना चाहिए। यह एक तरह की प्रेमपरक क्रीड़ा है जो प्रेम को उद्दीप्त करती है। अतः इसे उद्दीपन के भीतर रखना अधिक संगत लगता है।

ईर्ष्यामान के वर्णन में बिहारी की चित्तवृत्ति अधिक रमी है। परन्तु इसके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को न दिखलाकर प्रायः नायिका के आक्रोश तक ही कवि सीमित रहा है। खंडिता के प्रसंग में तो बिहारी की दृष्टि बाह्य रति-चिह्नों पर विशेष रूप से टिकी है। वे पलकों में पीक, अधरों में अंजन, भाल में महावर, आँखों में किंजल्क, छाती में नखक्षत, अधरों में दंतक्षत, बालों पर चोटी का चिह्न, दृगों में ललाई और आलस्य, उँगलियों में महावर आदि के वर्णन में इतने उलझे हुए दिखाई देते हैं कि खंडिताओं के व्यंग्य को रससिक्त उतना नहीं कर सकते जितना चमत्कारपूर्ण। खंडिता नायिका के व्यंग्य क्षोभ के इन बाह्य चिह्नों का स्मरण इस काल के सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है, किन्तु इसका जितना विस्तार बिहारी ने किया है उतना और लोगों ने नहीं। मतिराम, देव, पद्माकर आदि कवि बीच-बीच में खंडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। निम्नलिखित दोहा इस सम्बन्ध में प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है :

पलनु पीक, अजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हो लाल॥

ये चिह्न पति के अपराध के सूचक हैं और पति का अपराध ही ईर्ष्यामान का

कारण है। बिहारी ने स्वयं कहा है :

पति रितु अवगुन गुन बढ़तु भानु, माह को सीतु।
जात कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी-मनु, नवनीत॥

अर्थात् पति और ऋतु के अवगुण (अपराध) तथा गुण (स्वभाव) से मान और माघ महीने की शीत वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप रमणी का मन तथा नवनीत जो प्रकृत्या कोमल है निष्ठुर तथा कठोर हो जाते हैं।

पूर्वानुराग*

पूर्वानुराग के वर्णन में भी बिहारी में न आवेगात्मक तीव्रता दिखाई पड़ती है और न संवेदनात्मक गहराई। यह पूर्वानुराग प्रायः दो रूपों में चित्रित हुआ है—इतिवृत्तात्मक और चित्त विकलनात्मक। पहले रूप का जहाँ तक सम्बन्ध है नायिका की किसी-न-किसी दशा का विवरण उपस्थित किया गया है :

लाल, तिहारे रूप की, कहौ, रीति यह कौन।
जासों लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न॥

इसमें अनिद्रा-दशा का जो कथन किया गया है वह किसी प्रकार काव्योचित नहीं बन पड़ा है।

चित्त की विकलता के फलस्वरूप उसकी जिस अस्थिरता का उल्लेख किया गया है वह अपेक्षाकृत ऐंद्रिय और संवेद्य अवश्य है :

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

प्रवास

नायिका से वियुक्त होकर नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहा गया है। इसमें मलिनता, संताप, पांडुता, दौर्बल्य, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा आदि काम-दशाएँ देखी जाती हैं। गंभीर वियोग इस स्थिति में अधिक स्वाभाविक है। किसी के द्वारा संदेश भेजना और चित्र लेखन भी प्रवासजन्य वियोग की रूढ़ियाँ हैं। बिहारी में इन समस्त रूढ़ियों को खोजा जा सकता है।

उपर्युक्त काम-दशाओं में प्रथम चार का सम्बन्ध शरीर से है तो शेष छः

---

* मिलन के पूर्व रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण या दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की मनःस्थिति।

का मन से। प्रथम चार दशाओं का मूल प्रेरक भी मन ही है, उसकी प्रतिक्रिया शरीर पर उन रूपों में होती है। नीचे कुछ दशाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :

संताप

(१) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति॥
(२) औंधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरनि बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाबु गो छीटौ छुई न गात॥
(३) जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति॥

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी के वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए लिखा है—'जायसी का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँच पाया है, उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी उक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अन्तर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर-बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, बोतल का गुलाब जल सुखा डालने वाले, ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतरी उसकी बाहरी नाप-जोख पर नहीं जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है।' इस अवतरण में जितने निषेधात्मक वाक्य हैं वे सब बिहारी को दृष्टि में रखकर लिखे हुए हैं—उनके संताप-वर्णन को लक्ष्य करके। तात्पर्य यह है कि बिहारी का संताप-वर्णन मात्रामूलक है, वह नाप-जोख की पद्धति पर आधारित और ऊहात्मक है :

दौर्बल्य

(१) करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥
(२) इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढी हिंडोरैं तैं रहे लगी उसासनु साथ॥
(३) नैक न जानी परति यौं, पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु॥

जिस तरह संताप वर्णन में कवि की दृष्टि ताप की मात्रा पर रही है उसी तरह इस प्रसंग में भी उसकी दृष्टि शारीरिक दुर्बलता और आत्यंतिक क्षीणता पर टिकी है। दुर्बलता का यह रूप भी काया की तनुता पर आधृत है, हृदयगत संवेदना पर नहीं।

अस्थिरता का एक उदाहरण पूर्वानुराग के प्रसंग में दिया जा चुका है।

तन्मयता, उन्माद और मरण के एक-एक उदाहरण देखिए :

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥
(तन्मयता)

बिरह जरी लखि जीगननु कहो न डहि कै बार।
अरी, आउ, भजि भीतरी, बरसतु आजु अँगार॥
(उन्माद)

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखैं मारिबौ भई असीस॥
(मरण)

विरह के उद्दीपन

जो वस्तुएं संयोग में सुखानुभूति जगाती हैं वे ही वियोग में दुःखानुभूति जगाने का कार्य करती हैं। काव्य में इनका वर्णन कवि परम्परा से करते आए हैं। बिहारी की उक्तियां भी परम्परा के ही मेल में हैं :

(१) औरे भाँति भए, ऽब ए चौसर, चंदनु चंदु।
पति बिनु अति पारतु बिपति, मारतु मारुतु मंदु॥

(२) हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर नाउँ॥

समस्त परम्पराओं के पालन के बावजूद बिहारी के विरह-वर्णन में कुछ ऐसे स्थल जरूर हैं जो उनकी श्रेष्ठ काव्यप्रतिभा के द्योतक हैं। (विरह वर्णन ही क्यों संयोग और सौन्दर्य वर्णन के सिलसिले में भी उसे देखा जा सकता है।) इस तरह के दोहों के कुछ उदाहरण देखिए :

(१) अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरैं गात।
अब हीं कहा चलाइयति ललन चलन की बात॥

(२) स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनि करत तरौंस कौं खिनक खरोहौं नीर॥

(३) कर के मीड़े कुसुम लौं गयी विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ॥

इन दोहों में वे कौन-सी ऐसी विशेषताएं हैं जो उन्हें श्रेष्ठ काल में परिगणित करती हैं? यह प्रश्न स्वयं इन दोहों के लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना मूल्यांकन की समस्या के लिए रखता है। यह कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ न तो ऊहात्मक हैं, न बाहरी नाप-जोख से इनका सम्बन्ध है, शारीरिक कार्श्य का तनुतापरक वर्णन भी इनमें नहीं है। पर ये निषेधात्मक कथन तो अपने आप में काव्य के गुण नहीं हैं। कुछ लोग निश्चयात्मक (पाजिटिव) ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कथन की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण इन दोहों को श्रेष्ठ माना जा सकता है। किन्तु स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता जैसे गोल शब्द इनके काव्यात्मक सौन्दर्य के मापक नहीं हो सकते।

वास्तव में इन दोहों की श्रेष्ठता यथार्थ की काव्यात्मक पकड़ में निहित है। यथार्थ की जो पकड़ संताप-दौर्बल्य-प्रदर्शक दोहों में दिखायी पड़ती है वह अस्वाभाविक और मात्र भौतिक (फिजिकल) हैं। इसलिए उनकी भाव व्यंजनाएं वाह्यतापरक हैं, जो संवेद्य नहीं हो पातीं। मानसिक यथार्थ का सम्बन्ध हमारी संवेदनाओं और सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से होता है। भौतिक यथार्थ का अपने आप में महत्त्व है बशर्ते वह मानसिक यथार्थ को उसके वास्तविक सम्बन्धों में व्यक्त कर सके। 'औधाई सीमी' वाले दोहे को लीजिए। 'शीशी का औंधाना' भौतिक यथार्थ है पर ताप से उनका जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह बड़ा ही लचर और मूल्यहीन हो गया है—दूसरे शब्दों में वह संबंध अवास्तविक और मिथ्या है। वैयक्तिक दृष्टि से उसका चमत्कारिक महत्त्व हो सकता है पर वह सार्वजनीन दृष्टि से सहृदय संवेद्य नहीं हो सकता।

इसलिए आचार्यों ने काव्य में वैयक्तिकता का निषेध किया है। टी० एस० इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त भी इसी बात की पुष्टि करता है। काव्य में निजी अनुभूतियाँ और विचार अनेक प्रकार की बाधाएं उत्पन्न करते हैं। रोमैंटिक काव्य को लेकर इस पर तरह-तरह की मान्यताएँ प्रस्तुत की गयी हैं। इस सिलसिले में इस बात का विचार नहीं किया गया कि चमत्कारिकता के करिश्में भी व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध रहते हैं—निर्वैयक्तिकता से नहीं। बिहारी जहाँ पर्याप्त निर्वैयक्तिक हुए हैं वहाँ उनका काव्य श्रेष्ठता के धरातल पर पहुँच गया है।

संताप और दौर्बल्यपरक दोहों तथा उपरि उद्धृत दोहों में एक अन्तर और है। पहले प्रकार के दोहे में जिस सत्य की अभिव्यक्ति की गयी है वह व्यंजित सत्य को इस तरह ढंक लेता है कि उसकी पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती। काव्य में जो कुछ व्यक्त किया जाता है, वह वैज्ञानिक सत्य की तरह खंड सत्य नहीं होता प्रत्युत्

पूर्ण सत्य होता है। उसकी व्यंजना आगे बढ़कर कथ्य को पूर्णता प्रदान करती है। परवर्ती दोहों का कथ्य अधिक पूर्ण और व्यंजक है। यही नहीं, उनमें व्यक्त संवेदनाएँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक गूढ़ और सूक्ष्म हैं।

पहला ही दोहा लीजिए। नायक के विदेश जाने का प्रसंग है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से दुखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया। यह प्रथम वियोग के क्लेश को ही अभिव्यक्त करके नहीं रह जाता। बल्कि इससे प्रथम वियोग का पूरा दुःखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है। इतना ही नहीं, उस वियोग में तो बेचारी की वह दशा हुई, पता नहीं इस वियोग में क्या होगा? प्रथम वियोग से दुर्बल शरीर और उसके रंग (पांडुता आदि) से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है।

दूसरे दोहे के काव्य की नींव गहरी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर टिकी है। नायक अत्यन्त तीव्रगामी घोड़े पर सवार है, अतः उसे प्रिय के पास पहुँचने में तनिक भी बिलम्ब नहीं लगा। किन्तु ग्वेड़े का रास्ता हजार कोस दूर मालूम पड़ने लगा। सापेक्षवाद के सिद्धान्त से परिचित लोगों को इसकी स्वाभाविकता में किसी तरह का संदेह नहीं हो सकता। मानसिक सत्य को भौतिक सत्य से इस तरह बाँधा गया है कि उसकी अस्वाभाविकता खटकने के स्थान पर अच्छी लगती है।

चौथा दोहा अत्यधिक मार्मिक है। शास्त्रीय शब्दावली में यह स्मृति संचारी कहा जाएगा। श्याम और यमुना तट का कितना गहरा सम्बन्ध है। इसी को विचारानुषंग कहते हैं। यमुना तट पता नहीं कितने संदर्भों और अनुभूतियों को जागरित करने में समर्थ है। श्याम की स्मृति आते ही राधिका का यमुना तट की ओर देखना सहज है। यमुना तट के अनेक स्मृतियों से लिपटे रहने के कारण इतना उत्तेजक है कि आँखों से अश्रु की धारा निकल पड़ती है। उनके आँसुओं से तट का जल क्षणभर को खारा हो जाता है। सारी संवेदना का यह परिणाम इसको अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ बना देता है। स्मृति-जन्य संवेदनाओं के अन्तस्सम्बन्धों को इस ढंग से गुंफित किया गया है कि सब मिलाकर वे अत्यधिक मर्मस्पर्शी बन गए हैं।

यही बात अंतिम दोहे के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस दोहे का मर्म 'करके मीड़े कुसुम लौं' में निहित है इसका बिम्ब इतना संवेदनाशील है कि विरह वेदना अपनी पूर्णता में व्यक्त हो उठती है।

श्रृंगारेतर-भाव-व्यंजना

श्रृंगार के अतिरिक्त बिहारी में अन्य प्रकार की भावाभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं। इनके तीन रूप हैं—व्यंग्योक्तियाँ, भक्तिपरक रचनाएँ और प्रकृति-वर्णन। नीतिपरक रचनाओं को इनके अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वे मूलतः भाव से नहीं बल्कि नीतिमत्तात्मकता से अनुप्राणित हैं। व्यंग्योक्तियों के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है। पर इनका सम्बन्ध कोरी नीतिमत्ता से नहीं और न कोरा बुद्धि-विलास ही इन्हें अनुप्रेरित करता है। एक विशेष भावात्मक स्थिति में जब वाणी वक्र हो उठती है तो व्यंग्योक्तियाँ अपने आप अभिव्यक्ति पा जाती हैं। इसलिए ये मुख्यतः भावानुप्रेरित ही होती हैं। ये कभी क्षोभजन्य मन की उपज होती हैं तो कभी शान्त मन की। क्षोभजन्य मन से प्रादुर्भूत व्यंग्योक्तियाँ प्रायः आक्रामक होने के कारण कटूक्तियाँ बन जाती हैं और कटूक्तियाँ को न तो जीवन में स्वस्थ माना जाता है और न साहित्य में। शान्त मन से निकली हुई व्यंग्योक्तियों में भी जो मीठी चुटकी रहती है उसकी मार अधिक सौजन्यपूर्ण किन्तु तीखी होती है। इनके पीछे भी अवचेतन (सबकांसस) मन में छिपा हुआ कोई-न-कोई विरोध होता है। पर यदि यह विरोध व्यक्ति विशेष के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो व्यंग्य की गुरुता समाप्त हो जायगी। इसके विषय की व्याप्ति जितनी अधिक होगी व्यंग्य भी उतना ही मार्मिक और प्रभावापन्न होगा।

कवि जिस समाज और वातावरण में रहता है अपने व्यंग्य का विषय भी उन्हीं के बीच से चुनता है। जिस श्रृंगारिक वातावरण में बिहारी ने अपनी काव्यप्रतिभा का विकास किया उसी में से उन्होंने हास व्यंग्य की सामग्री भी चुनी। यद्यपि संख्या में व्यंग्यपरक दोहे बहुत कम हैं फिर भी उनमें पैनेपन की कमी नहीं है।

जिन पौराणिकों, वैद्यों, ज्योतिषियों और सहृदयों पर व्यंग्य किया है वे सामंतीय सामाजिक व्यवस्था की असंगतियाँ हैं। वे व्यक्ति न होकर टाइप हैं जो तत्कालीन समाज के मर्म का बहुत ही सटीक उद्‌घाटन करते हैं। एक 'पर उपदेश कुशल' की करतूत देखिए :

परतिय-दोषु पुरानु सुनि, सखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्रहूँ, मुँह आई मुसकानि॥

किसी कथा-प्रेमी समाज में पौराणिकजी कथा सुना रहे थे। वे एंक ऐसे प्रसंग की व्याख्या कर रहे थे जिसमें पर स्त्री-गमन को दोष माना गया था। श्रोताओं में उनकी परकीया भी बैठी हुई थी। उनकी व्याख्या सुनकर वह हँस पड़ी। मिश्र जी ने वह हँसी न देखी हो ऐसी बात नहीं थी। उन्हें भी हँसी आ गयी। पर चतुर पौराणिक ने बलपूर्वक अपनी हँसी रोक ली जिससे उनका रहस्य उद्घाटित न हो जाए।

यह थी उस समय के पौराणिकों की कथनी और करनी। शास्त्र के सारे विधि-निषेध केवल दूसरों के लिए थे। वे उनसे परे, स्वतंत्र और उन्मुक्त थे। ऐसे लोगों के लिए बाबा तुलसीदास ने कहा है :

'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

अब एक वैद्य जी की पहचान कीजिए :

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैदबधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥

वैद्यराज जी ने काफी धन लिया और अपने भस्म की तारीफ़ करते हुए बड़े निहोरे से दवा दी। बेचारे नपुंसक रोगी को क्या पता कि वैद्यजी भी इसी मर्ज के मरीज हैं। वैद्यराज की बधू भी वहीं बैठी हुई थी। वह रहस्यपूर्ण ढंग से हँसी और अपने पतिदेव का मुँह देखकर रह गयी। 'भेद सौं' वैद्य जी की करामात की कलई खोल देता है।

एक ज्योतिषीजी की प्रसन्नता की बानगी भी देखने ही लायक है -

चित पित मारक जोगु गनि, भयौ भयैं सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोयसी, समुझैं जारज जोगु॥

ज्योतिषीजी को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। जब उन्होंने उसकी कुंडली बना ली तो देखा कि ग्रह संख्या में पितृमारक योग पड़ा है। इससे उनको बहुत शोक हुआ। पर जन्म में जारज योग समझकर वे मन-ही-मन परम प्रसन्न हुए। जान बची लाखों पाए।

किसी रसिक ने एक सुन्दरी से बहनापे का नाता जोड़ लिया है। पर इस नाते के मूल रहस्य को समझती हुई उसकी सखी कहती है :

बहकि न इहिं बहिनापुली जब तब बीर बिनासु।
बचे न बड़ी सबीलहूं, चील-घोंसुवा माँसु॥

इस बहनापे की चाल तुम नहीं समझती, इसके चक्कर में न फँसना। इससे कभी-न-कभी बहुत बड़ा अनर्थ हो जाएगा। तुम अपनी तरह सबको सरल जानती हो। चील के घोंसले में बहुत उपाय करने पर भी मांस नहीं बचता।

उस मध्यकालीन मनोवृत्ति पर यह व्यंग्य जितना सत्य है उससे कहीं अधिक आज के युग पर। न तो उस समय उस सम्बन्ध की पवित्रता का निर्वाह हो पाता था और न वह आज होता दीख पड़ता है। आज की पाश्चात्य संस्कृति में बहन या 'बहनजी' का अर्थ व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता।

इस तरह की सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों का रीतिकालीन कविता में प्रायः अभाव मिलेगा। व्यंग्य विनोद की सर्जना बहुत बड़ी प्रतिभा की माँग करती है। इस प्रतिभा के अभाव में व्यंग्य विनोद के नाम पर भंड़ोवा की रचना होने लगती है, जिसके नमूने आधुनिक हास्य रस की ढेर रचनाओं में प्रायः देखने को मिलते रहते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई में जहाँ एक ओर परकीया प्रेम के सम्बन्ध में काफी दोहे लिखे वहाँ उसका मजाक उड़ाने में भी नहीं चूके। इन व्यंग्योक्तियों से यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। इस असंगति का मुख्य कारण यह है कि सामंतीय वर्ग में प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं था। वह प्रेम के नाम पर मनोविनोद किया करता था। प्राचीन नागरिकों की तरह निश्चिन्त विलास भी वे नहीं कर सकते थे। यह युग न उस वैभव के ऊँचाइयों को स्पर्श कर सकता था और न रसिकता की गहराइयों में उतर सकता था। नैतिकता के भय से वह अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाया था। इस स्थिति में नैतिकता के लिए कोई खास स्थान नहीं रह पाया। वह और भी विकृत हो जाती है। इस विकृत नैतिकता पर बिहारी ने बहुत ही चुभते हुए प्रहार किए हैं।

भक्ति

भक्ति एक रस है, अब यह निर्विवाद हो गया है। यह सच हो सकता है कि साधारणीकरण की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत सीमित है। रस और साधारणीकरण पर विचार करते समय हमारे देश के आचार्यों की दृष्टि सर्वथा पाठक या सहृदय पर रही है। किन्तु कर्त्ता या कवि की काव्य-प्रक्रिया को छोड़ देने का परिणाम यह हुआ कि काव्य नैतिकता के धरातल पर आ खड़ा हुआ। इससे कवि के उचित मूल्यांकन में बाधा भी आयी। वास्तव में कवि का सच्चा विश्लेषण दोनों सिद्धांतों के आधार पर ही किया जा सकता है।

भक्ति भावना को ही लीजिए। भक्त कवियों की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि भक्ति उनके जीवन का अनिवार्य अंग हो गयी थी। इसीलिए उनकी

कृतियाँ भी सहज ही भावोद्रेक-क्षम बन सकीं। रीति-कवियों की भक्ति-भावना या तो परम्परा का पालन करती है या जीवनगत नैराश्य और क्षोभ का आश्रय स्थल प्रस्तुत करती है। बिहारी की भक्तिपरक रचनाओं को पहली कोटि में रखना चाहिए, क्योंकि वे अपने काल के अन्य बहुत-से कवियों की भाँति द्विधात्मक स्थिति में नहीं पड़े और न पेट की चपेट में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं।

परम्परा पालन के कारण बिहारी की भक्तिपरक रचनाओं में न भागवत उन्मेष मिलता है और न मौलिक उद्भावना। पर यह कहना कि शृंगारिक भावना के आवेश में उन्होंने मुक्ति का निषेध किया है, अत्यन्त आश्चर्यजनक है। अपने मत की पुष्टि में कुछ लोगों ने बिहारी के निम्नलिखित दो दोहे उद्धृत किए हैं :

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहिए संग सजन तौ, धरक नरकहूँ की न॥
चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥

इन दोहों के आधार पर अद्भुत निष्कर्ष निकालने के पहले यदि उन विद्वानों ने रत्नाकरजी की टीका देख ली होती तो इस भ्रान्ति के लिए अवकाश न मिलता। 'बिहारी रत्नाकर' में उपर्युक्त प्रथम दोहे की टीका यों की गयी है :

'उद्धवजी से गोपियों का वचन—यदि (मुक्ति) प्रियतम प्राप्ति की युक्ति नहीं है (अर्थात् प्रियतम प्राप्ति की युक्ति के अतिरिक्त कोई और वस्तु है), (तो हमने ऐसी) मुक्ति के मुँह में धूल झोंकी (अर्थात् ऐसी मुक्ति से हम बाज आयीं), (और) यदि प्रियतम संग में प्राप्त हो, तो (हमको) नरक की भी धड़क नहीं है।'

क्या इसमें शृंगारिक भावना के आवेश में मुक्ति का निषेध किया गया है? मान लीजिए आपको रत्नाकरजी द्वारा कल्पित प्रसंग नहीं अच्छा लगता है और आप उस दोहे को मौलिक प्रसंग देना चाहते हैं। इससे किसी को एतराज नहीं हो सकता है। पर इस दोहे में प्रेम के जिस उज्ज्वल और उदात्त पक्ष को चित्रित किया है उसे भी तो नजरंदाज नहीं किया जा सकता। इस शुभ ऐकांतिक प्रेम में राग की जो सांद्रता है वह इसके मानवीय मूल्य को काफी बढ़ा देती है। इसमें मुक्ति का निषेध देखना तो वैसा ही है जैसा सूर के 'हरि, हौं सब पतितन को राउ' में सूर का चारित्रिक दोष देखना।

इसी प्रकार दूसरे दोहे में भी मुक्ति का निषेध नहीं माना जा सकता। काव्य सत्य और वस्तु सत्य का भेद न करने पर इसी तरह के अद्भुत वक्तव्य दीख पड़ते हैं। बिहारी स्वयं कहते हैं :

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अघमनु दियौ।
जौ बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

वास्तविकता यह है कि शृंगारिक कविताओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी विहारी ने परम्परा का पालन किया है। भक्तों के मोटे सिद्धान्तों को ही इन्होंने अपने दोहों में व्यक्त करना उचित समझा। सामान्य भक्तों की भाँति इनका दृष्टिकोण भी असांप्रदायिक था। बाह्याचार के सम्बन्ध में इन्होंने जो कुछ उद्‌गार व्यक्त किए हैं वे भक्त कवियों की भावनाओं के मेल में हैं। आत्मनिवेदन संबंधी दोहों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

असांप्रदायिक दृष्टिकोण

हिन्दीसाहित्य के भक्तिकाल में भक्त कवियों ने भक्ति की जो मंदाकिनी बहाई उसके प्रखर स्रोत में मत-मतान्तरों के क्षुद्र तृण ठहर न सके। तुलसी की सर्व-धर्म-समन्वय की धारणा तथा अन्य सन्तों की स्वच्छ असांप्रदायिक दृष्टि ने इस दिशा में जो स्तुत्य कार्य किया उसका इतना गंभीर और व्यापक प्रभाव पड़ा कि साम्प्रदायिक विद्वेष की खाई सर्वदा के लिए पट गयी। विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित होने पर भी रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों ने किसी विशेष मत के प्रति आग्रह नहीं व्यक्त किया, प्रत्युत अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों द्वारा निर्दिष्ट सामान्य भक्ति मार्ग का ही अनुसरण किया।

विहारी ने अपने समय के सभी कवियों का प्रतिनिधित्व करते हुए लिखा है :

अपनैं-अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं-त्यौं सबहीं सेइबौ, एकै नन्दकिसोरु॥

इसी दृष्टिकोण के कारण राम, कृष्ण, रघुराज, मुरारि सभी समानार्थी हो गए थे। इसको साम्प्रदायिक ढँग से इन कवियों ने नहीं देखा। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार—'राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे। भगवान् की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा ही किया है।'

बाह्याचार

भक्त कवियों और संतों ने प्रायः बाह्याडंबर को व्यर्थ बतलाते हुए आन्तरिक प्रतीति में अपनी आस्था प्रकट की है। रीति कवियों ने इस विषय में स्फुट ढँग से

जो कुछ लिखा है वह उन्हीं भक्तों और संतों की परम्परा में पड़ता है :

(१) जपमाला, छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥

(२) काहे को बर्घबर को ओढ़ि करो आडबर,
काहे को दिगंबर ह्वै दूब खाइ रहिए।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर सभीत सीत बात ताप सहिए।
काहे को जपोगे जप काहे को तपोगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिए।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिए।
—पद्माकर

सख्य और उपालंभ

सख्य भाव की उपासना में वाणी का वक्र हो जाना स्वाभाविक होता है, क्योंकि सखा भाव के कारण उपासक और उपास्य बहुत कुछ एक धरातल पर आ खड़े होते हैं। इसके फलस्वरूप भक्त उपालंभ देने के लिए भी रास्ता खोज निकालता है। सूर के ढँग पर बिहारी ने इस तरह की उक्तियाँ कही हैं :

(१) कौन भाँति रहिहै बिरदु, अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै, गीधे गीधहिं तारि॥

(२) मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज॥

(३) नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरदु बारक बारनु तारि॥

(४) बन्धु भये का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

आत्म निवेदन

यद्यपि भक्तों की देखा-देखी रीति कवियों ने भी भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन किया है, पर इस निवेदन में वह तन्मयता और विभोरता नहीं है। रीति कवि थे। भक्त कवियों की भाँति उनका पूर्ण जीवन भगवान् को कभी समर्पित नहीं हुआ। इसलिए इनकी कविताओं में वह विह्वलता ढूँढना इनके साथ अन्याय

करना है। कभी-कभी इनकी रचनाओं में जो भावपरक विह्वलता दिखाई पड़ती है वह एक विशेष मानसिक स्थिति की उपलब्धि है। बिहारी की शृंगारपरक रचनाओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी आवेगमयता कहीं नहीं मिलेगी पर इसमें भी यत्र-तत्र संयम और संवेदन दिखाई देगा। एक उदाहरण लीजिए :

तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयागु॥

इसके साथ ही मतिराम का भी एक दोहा देखिए :

राधा मोहन लाल को, जिन्हें न भावत नेह।
परियो मुठी हजार दस, जिनकी आँखिन खेह॥

जहाँ तक आवेग और संवेदना का सम्बन्ध है मतिराम के दोहे में कवि की आवेगमयता पूरी ऊँचाई पर पहुँची हुई है। पर बिहारी के दोहे की संवेदनशीलता सहृदयों पर अधिक गहरा और स्थायी प्रभाव डालती है। मतिराम के दोहे में बात आवेगात्मक ढँग से कह दी गयी है, पर बिहारी के दोहे का कथ्य पाठकों से कुछ अधिक माँग करता है। यों इस प्रकार के दोहे बहुत कम हैं।

विषयों का निषेध

भक्त संतों के वैराग्य, संतोष, नारी-निंदा आदि के बिना इस परम्परा का पूरा निर्वाह नहीं किया जा सकता था। अन्य रीति कवियों की अपेक्षा बिहारी ने इस पर विशेष ध्यान दिया है। इन दोहों में भावों की प्रगाढ़ता तो नहीं है पर वक्रोक्ति जरूर है :

(१) जम-करि-मुँह तरहरि पर्‌यो इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥
(२) दीरघ साँस न लेहु दुख सुख साईंहि न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥
(३) या भवपारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय छबि छायाग्राहिनी गहै बीचहीं बाइ॥

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के जिन संश्लिष्ट चित्रों की खोज करते सहृदय दीख पड़ते हैं, उन्हें बिहारी में देखा जा सकता है। पूरे रीतिकाल में इस तरह के भावपूर्ण प्रकृति चित्र बहुत कम मिलेंगे। इस दृष्टि से भी बिहारी बेजोड़ हैं—मुक्तकों में प्रेमा-

ख्यान-काव्यों की तरह बारहमासा लिखने के लिए अवकाश नहीं है। अतः इनमें ऋतु वर्णन की प्रणाली ही ग्रहण हुई :

(१) छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झपत, भौंर झौंर मधु गंध॥

(२) कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ॥

(३) बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह॥

पहले उदाहरण में बसंतश्री का इतनी कम रेखाओं में जितना व्यंजक चित्र खींचा गया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। गन्धपूर्ण वसंती वातावरण अपनी समस्त समृद्धि में चित्रमय हो उठा है। दूसरे उदाहरण में चमत्कार की प्रधानता हो गयी है। यह ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। ग्रीष्म-दाह से विरोधी स्वभाव वाले प्राणी साँप मोर और मृग-बाघ अपने स्वभाव को भूलकर एक ही जगह रहते हैं। तीसरा उदाहरण भी ग्रीष्म ऋतु का ही है। ग्रीष्म की दुपहरी में छाया सिमट जाती है। उसके लिए दो ही ठौर बचते हैं—सघन बन और घर, ग्रीष्मकालीन दोपहरी का कितना सूक्ष्म निरीक्षण है।

ग्रीष्म और वसंत को छोड़कर शेष ऋतुओं का वर्णन उद्दीपनात्मक है :

(१) धुरवा होहिं न अलि उठै, धुंवा धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम पयोद॥

(२) अरुन सरोरुह कर चरन, दृग-खंजन मुख चंद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करत अनन्द॥

(३) आवत जात न जानियतु तेजहि तजि सियरानु।
घरहैं जमाई लौं घट्यौ खरौ पूस दिन मानु॥

(४) लगत सुभग शीतल किरन निसि-सुख दिन अवगाहि।
माह ससी भ्रम सूर त्यौं रहति चकोरी चाहि॥

भाषा, छंद और अभिव्यक्ति

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। यह उस समय की प्रचलित 'काव्य भाषा' है। भक्तिकाल में प्रचलित ब्रजभाषा और रीति काल में प्रचलित काव्यभाषा में एक अन्तर दिखाई पड़ता है वह यह कि पहली लोक भाषा के निकट है जबकि दूसरी उससे दूर पड़ गयी है। भक्तिकाल की कविताएँ जनता को संबोधित थीं तो रीतिकाल की कविताएं राजाओं-महाराजाओं और सामन्तों-सरदारों को। एक में जनमानस को छूने का प्रयास था तो दूसरी में सामंत वर्ग को चमत्कृत करने का आयास। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन काव्य-भाषा को अलंकृतिपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था। श्रीकृष्ण के लीलापरक व्यक्तित्व को ही विषय-वस्तु बना लेने के कारण भी इस भाषा को निरन्तर संस्कृत और अलंकृत करने के अलावा और गुंजायश नहीं रह गई थी।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी सबसे अधिक सजग कवि थे। अतः शब्दार्थों की सही पहचान में उन्हें अद्वितीय कहा जा सकता है। संस्कृत के आचार्यों ने शब्दार्थ को अविभाज्य माना है। कविता का बहुत कुछ दारोमदार उपयुक्त शब्दों के चुनाव पर रहता है। चाहे पंडितराज जगन्नाथ हों, चाहे मेलार्मे हों सभी लोग कविता में शब्दों की महत्ता सर्वोपरि समझते हैं। काव्यगत शब्द मात्र अर्थ बोध नहीं कराते वे रागाबोधात्मक होते हैं। कवि को मालूम होना चाहिए कि अमुक शब्द कितना औचित्यपूर्ण और अनुषंगयुक्त है।

'कृष्ण' शब्द को ही लीजिए। इसके अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया। पूरी छानबीन करने पर लगता है कि उन संदर्भों में ये ही शब्द सर्वाधिक उपयुक्त थे :

साजे **मोहन**-मोह कौं, मोहौं करत कुचैन।

× × ×

कच-अंगुरी बिच दीठि दै, चितवति **नन्द कुमार**

× × ×

रतिपाली, आली अनत, आए **बनमाली** न।

मोहन में मोहने का जो चमत्कार है, वह किसी अन्य शब्द में नहीं पाया जा सकता। नन्दकुमार में जो कुमारत्व है वह चितए जाने के प्रसंग में अर्थगर्भत्व से पूर्ण है। वन, नदीतट आदि में घूमने वाला बनमाली अपनी अर्थवत्ता में अद्वितीय है। इस प्रकार ध्वनि और व्यंजना का सतसई में बाहुल्य है।

सस्कृत और अरबी-फारसी

संस्कृत की विपुल शब्दावली ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में मिली है। बिहारी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सतसई में खूब किया है। कज्जल, अद्वैतता, निदाघ, कायव्यूह, इन्दीवर, घंटावली, प्रतिबिम्बित आदि बहुत से शब्द सतसई में देखे जा सकते हैं।

मुसलमानों के आगमन से इस देश में जिस नवीन संस्कृति का आविर्भाव हुआ उससे भाषा के क्षेत्र में भी नया रंग आया। बहुत से मुसलमान राजा-रईसों ने हिन्दू कवियों को उदारतापूर्वक आश्रय दिया। हिन्दू-मुसलमान जनता आपस में इतनी घुल मिल गयी कि एक दूसरे की रीति-नीति, आचार-विचार और भाषा संस्कृतियों में भी मिश्रण आ गया। हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक कवियों तक की भाषा में अरबी-फारसी के शब्द अनायास ही आ मिले। यही नहीं अरबी-फारसी के कुछ शब्द तो जन जीवन के अंग बन गए। समर्थ कवियों ने प्रायः इन्हीं शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया। 'सतसई' में प्रयुक्त अहसान, चश्मा, कबूल, हमाम, नाहक, फोज, पायन्दाज आदि ऐसे ही शब्द हैं। भिखारीदास ने ब्रजभाषा की चर्चा करते हुए कहा है—'सहज पारसी हू मिले।' बहुत से अप्रचलित प्रयोगों से भी इनकी रचना अछूती नहीं है, जैसे ताफता, रोहाल, आमिल आदि। जिस सामंतीय परिवेश में इनका लालन-पालन हो रहा था उसमें ऐसे पांडित्य-प्रकाशक शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक था।

कोई भी जीवंत भाषा अपने आप में शुद्ध और सीमित नहीं होती। अपनी पड़ोसी बोलियों और भाषा का सम्मिश्रण उसमें होता ही है। बिहारी की ब्रज-भाषा में बुन्देलखंडी, अवधी और पूर्वी का प्रभाव देखा जा सकता है। बिहारी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ही है—'जन्म ग्वालियर जानिए खंड बुंदेले बाल' लड़कपन के गहरे संस्कारों को मिटा पाना सभव नहीं है। 'देखवी', 'बीघे', 'गीघे' आदि शब्द बुन्देलखण्डी हैं।

मिश्रबन्धुओं ने बिहारी पर भाषा को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का आरोप लगाया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है—'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात कम

कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए 'सनर', 'कके' ऐसे विकृत रूप मिलेंगे। 'जो यह भी नहीं जानते कि संक्रान्ति का संक्रमण (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है 'रोज रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी, द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है। 'सोनजाई' शब्द सोनजाति' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में वारि और बार दोनों शब्द हैं और वार्द का अर्थ बादल है, 'मिलान', पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रज भाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, खटकति का रूप बहुवचन में यही रहेगा। यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष।'

क्रिया का प्रयोग कहीं-कहीं चिन्त्य हैं। क्रिया के पूर्वी प्रयोग घनआनन्द की रचनाओं में प्रायः नहीं हैं पर बिहारी की सतसई में काफी हैं। 'लीन', 'कीन' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं :

'तन मन नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन।'
'पियतिय सौं हँसि कै कह्यो लखैं दिठौना दीन॥'

बुन्देलखण्डी शब्दों के प्रयोग भी 'सतसई' में काफी मिलते हैं।

लिंग की गड़बड़ी ब्रजभाषा के सभी कवियों में मिलेगी। ब्रजभाषा में अनेक अंचलों की बोलियों का सम्मिश्रण है। एक ही शब्द एक अंचल में पुलिंगवत प्रयुक्त होता है और दूसरे अंचल में स्त्री लिंगवत। इस प्रकार की गड़बड़ी से बिहारी भी अछूते नहीं हैं। 'उसार', 'मिठासु', रुख' आदि शब्दों के प्रयोग में लिंग प्रयोग की त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं।

अपनी त्रुटियों के बावजूद बिहारी की भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के व्याकरण-संमत नियमों का निर्धारण करने के लिए नन्ददुलारेजी ने सतसई की भाषा को प्रतिमान माना है।

छन्द

बिहारी ने सतसई में दोहा छन्द का प्रयोग किया है। इस काल में सामान्यतः मुक्तक छन्दों का प्रयोग हुआ है। दोहा के अतिरिक्त सवैया और कवित्त इस काल के प्रमुख छन्द हैं। अभिनवगुप्त मुक्तक की परिभाषा देते हुए लिखते हैं

कि 'मुक्तक-अन्य से अनालिंगत पूर्वापर निरपेक्ष होते हुए रस-क्षम होता है।' पूर्वापर निरपेक्षता उसकी बाह्य विशेषता है तो चमत्कारोत्पादन-रसोत्पादन की क्षमता उसकी आन्तरिक विशेषता है।

मुक्तक और प्रबन्ध के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्य द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय दृश्य सादृश्य सामने ला दिया जाता है।'

शुक्लजी ने मुक्तक को गुलदस्ता कहकर उसकी काँट-छाँट तराश अर्थात् शिल्प-सज्जा की ओर जो ध्यान आकृष्ट किया है वह बहुत संगत है, पर प्रबन्ध और मुक्तक की प्रभावान्विति की चर्चा करते हुए एक को स्थायी और दूसरे को उतना स्थायी न मानना तर्कपूर्ण नहीं लगता। चंडीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास के मुक्तकों को कम स्थायी कैसे माना जा सकता है। इन सभी कवियों ने मनोदशाओं के जो चित्र खींचे हैं वे अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय हैं। इसीलिए तो कहा गया है—'अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते।' अमरुक के एक-एक श्लोक पर शत-शत प्रबन्ध निछावर है।

मुक्तकों के अनेक भेदों में बिहारी ने दोहा छंद को चुना है। अपभ्रंश साहित्य अपने साथ दोहा छन्द लेकर आया। उस काल की दर्पपूर्ण वीरतापरक उक्तियों, कोमल शृंगारिक भावनाओं तथा नीतिपरक सूक्तियों को बांधने में इसे पूरी सफलता मिली है। अपभ्रंश का यह अपना छन्द है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "'दोहा' या दूहा अपभ्रंश का अपना छन्द है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छन्द है। बाद में तो 'गाथाबंध' से प्राकृत रचना और दोहाबंध से अपभ्रंश रचना का बोध होने लगा था। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में तो 'दूहा विद्या' में विवाद करने वाले दो चारणों के ही विवाद की कथा कही जाती है, जो सूचित करती है कि अपभ्रंश काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में एकदम अपरिचित हैं, किन्तु परवर्ती हिन्दी साहित्य में यह छन्द अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है।" दोहा छन्द का सम्बन्ध आभीरों से है क्योंकि अपभ्रंश का सम्बन्ध भी उन्हीं से है।

अपभ्रंश कवियों के बावजूद हिन्दी के अनेक विशिष्ट कवियों ने इस छन्द का प्रयोग किया है। मीरा और सूर के पदों में भी इसका विनियोग हुआ है। जायसी के पद्मावत और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के बीच-बीच में इस

छन्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रबन्ध विधान में कड़ियों को मिलाने के साथ-साथ विराम देने का भी काम करता रहा है। अपभ्रंश काव्यों में कई पंक्तियों के बाद धत्ता देने की रीति प्रचलित थी। पश्चिमी अपभ्रंश के दोहे का धत्ता देना प्रचलित था। पद्मावत और रामचरितमानस में यह धत्तात्मक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

अन्य छन्दों की भांति दोहा छन्द भी निरन्तर परिमार्जित होता रहा है। 'बिहारी-सतसई' में तो जैसे उसे पूर्णता प्राप्त हो गयी। थोड़े में बहुत कहने के लिए बड़ी कला-कुशलता अपेक्षित होती है। दोहा छन्द की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि इसमें सफलता उसी कवि को मिल सकती है जिसमें समाहार शक्ति निहित हो। अपनी इस समाहार शक्ति के कारण बिहारी दोहों में रूप, भाव, चेष्टा आदि का प्रभावोत्पादक चित्र खड़ा करते हैं। इसके लिए उन्होंने जो फलक चुना है उस पर थोड़ी ही रेखाएं ही खींची जा सकती हैं। इन थोड़ी रेखाओं द्वारा ही चित्रों को प्रभविष्णु बनाया जाना संभव है। जिस प्रकार रेखा चित्रों में कुछ सार्थक लकीरों द्वारा चित्रों को अर्थपूर्ण बना दिया जाता है उसी तरह बिहारी ने अपने दोहों को गूढ़ अर्थ-गर्भ-व्यापारों के चुनाव द्वारा व्यंजक बना दिया है।

कला के प्रति अत्यधिक सचेत होने के कारण इनके दोहों में टेकनीक संबंधी त्रुटि नहीं आ पाई है। समूचे हिन्दी साहित्य में तुलसी को छोड़कर कला के प्रति इतनी सचेतता शायद ही किसी अन्य कवि में दिखाई पड़े। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रत्नाकरजी में जो सचेतता दिखाई पड़ती है वह बिहारी से प्रभावित है। पर जहाँ बिहारी की सचेतना युग के अनुरूप है वहाँ रत्नाकर की सचेतना युग के प्रतिकूल। बिहारी के दोहों के निर्माण में जिस क्रमागत पद-विन्यास (रेगुलरिटी) और अंग-संघटना (सिमिट्री) का विनियोग हुआ है वह उन्हें रूपात्मक पूर्णता प्रदान करता है।

जिस युग में बिहारी के दोहे निर्मित हुए वह युग अपनी अलंकृति तथा काव्यात्मक बारीकियों के लिए इतिहास में सदैव याद रहेगा। चित्र तथा वास्तु-कला में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भंगिमाओं को अंकित करने में जिस नागरक रुचि का परिचय मिलता है बिहारी के दोहे भी उसी का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर दोहों की बारीकियों और उनकी चित्रात्मक छवियों को तब तक अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता जब तक सतसईगत बिम्बों को देख न लिया जाय।

बिम्बयोजना

सतसई के दोहों में समग्रतः तीन प्रकार के बिम्ब दिखाई पड़ते हैं—(१) ध्वनि बिम्ब, (२) चाक्षुष, (३) वर्ण बिम्ब। इनके माध्यम से कवि ने

अपनी समाहार शक्ति और रचनात्मकता दिखाई पड़ती है। ये बिम्ब रंग-रेखाओं में जड़े अत्यन्त मनोरम और मार्मिक बन पड़े हैं।

परिवेश निर्माण के लिए काव्य में ध्वनि-चित्रों का विशेष महत्त्व है। कविता और कथा-साहित्य में ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा उत्तेजनात्मक प्रतिध्वनियाँ पैदा की जाती हैं। काव्य में प्रतिध्वनियाँ मूलतः संवेगों पर चोट करती हैं। और कथा-साहित्य में बाह्य यथार्थ का बोध कराती हैं। कविता में इनकी गूँज का महत्त्व है तो कथा-साहित्य में इनकी चित्रात्मक शक्ति का।

रीतिकाव्यों में प्रायः तीन प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग दिखाई पड़ता है—(१) रणनात्मक, (२) अनुकरणात्मक और (३) व्यंजक। प्रथम ध्वनि सर्वाधिक मुखर और सबसे कम व्यंजक है। दूसरी पहली और तीसरी के बीच स्थित है।

दास और तोषनिधि की अपेक्षा बिहारी की रणनात्मक ध्वनियाँ अधिक संयमित और आभिजात्यपूर्ण हैं। एक उदाहरण देखिए :

रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधु नीर।
मंद-मंद आवतु चल्यो कुंजरु कुंज-समीर॥
रुकयो साँकरैं कुंज-मग, करतु झाँझि, झकुरातु।
मंद-मंद मारुत-तुरँगु खूँदतु आवतु जातु॥
लहलहाति तन तरुनई लचि लगि लौं लफि जाइ।
लगै लाँक लोइन-भरी लोइनु लेति लगाइ॥

पहले उद्धरण में हाथी का रूपक बाँधा गया है। 'रनित' 'घंटावली' संयमित रणनात्मक ध्वनियाँ हैं। दूसरे उदाहरण में घोड़े को लेकर रूपक बाँधा गया है। कुंज के संकीर्ण मार्ग में अवरुद्ध, अड़ता हुआ, झिझकता हुआ, खूँद करता (रौंदता) हुआ, पवन-रूपी तुरंग मंद-मंद आता जाता है। दो बिम्बों में संदर्भ अलग-अलग हैं। पहले में ध्वनि रणनात्मक है, दूसरे में अनुकरणात्मक। इन बिम्बों की विशेषता उन थोड़े से प्रनिनिधि उपकरणों के चुनाव में निहित है जो बिम्बों को प्रभावात्मकता प्रदान करते हैं। कहना न होगा कि दोनों ही बिम्ब सामंतीय परिवेश को उजागार करने में पूर्णतः समर्थ हैं। तीसरे प्रकार की ध्वनि में लक्षणा का प्रयोग दिखाई पड़ता है, 'लहलहाति तन तरुनई —' से प्रसन्न तरुणाई का जीवंत चित्र उपस्थित हो जाता है।

चाक्षुष बिम्ब का केवल दृश्य होना ही जरूरी नहीं है बल्कि संवेदनात्मक होना भी आवश्यक है। एक उदाहरण लीजिए :

कंज नयनानि मंजनु किए बैठी ब्योरति बार।
कच अगुँरिन बिच डीठि दै चितवति नंदकुमार॥

इसमें पाँच उपकरणों का चुनाव किया गया है—कंजनयनि, मंजन किए,

बैठी ब्योरति बार, कच अँगुरिन बिच दीठि दै, और चितवति नंद कुमार। 'कंजनयनि' में आँखों के रूप-सौन्दर्य का एक पारम्परिक रूप दिखाई पड़ता है। मंजन किए में स्नान करने का वर्णन विवरण है, केश का प्रसाधन भी विवरणात्मक है। वस्तुतः प्रथम पंक्ति पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित की गयी है। बिम्ब की योजना दूसरी पंक्ति में की गयी है। बालों के बीच उँगलियों को डालकर नन्दकुमार को देखना चाक्षुष बिम्ब बनाता है। पर यह बिम्ब अपनी पृष्ठभूमि के अभाव में अधूरा है। पृष्ठभूमि और उस पर खिंची हुई रेखाएँ दोनों मिलकर बिम्ब को संवेदनात्मक बनाती हैं।

वर्ण-बिंब

चित्रकार की तरह कवि भावों को समृद्ध करने के लिए रंगों का प्रयोग करता है। रंग-विधान से चित्रों की व्यंजकता भी बढ़ जाती है। वह प्रकृति में बिखरे हुए नाना रंगों में से अपने अनुकूल रंगों का चयन करता है। कभी वह अनुरूप वर्ण योजना से नायिका के सौन्दर्य को आकर्षक बना देता है, तो कभी विविध रंगों के आनुपातिक मिश्रण से सौन्दर्य को उभार देता है। कभी वह प्रतिकूल वर्णों को सामने लाकर प्रिय के सौन्दर्य को चटकीला बनाता है तो कभी वर्ण परिवर्तन से उसकी मानसिक स्थिति का भावात्मक बोध कराता है। इस प्रकार के वर्ण-चित्रों के निर्माण में 'बिहारी' और 'देव' अद्वितीय हैं।

अनुरूप वर्ण-योजना

अनुरूप वर्ण-योजना के अन्तर्गत वे चित्र आते हैं जिनमें बहुत कुछ मिलते-जुलते रंगों (मैचिंग कलर) का प्रयोग इस ढँग से होता है कि सौन्दर्य में नवीन आकर्षण आ जाता है—

भई जू तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सुन बैन।
आँग-ओप आँगी दुरी, आँगी आँग-दुरै न॥

नायिका संदली अंगिया पहने हुए है। उसके शरीर के रंग से कपड़े का रंग ऐसा मिल गया है कि कपड़ा लक्षित नहीं होता। अंग की चमक में अँगिया छिप गयी है किन्तु अँगिया से अंग नहीं छिपता। अतः इस समय नायक को नायिका की अद्भुत छवि दिखाई पड़ती है। नायिका की जिस अद्भुत छबि की व्यंजना इस दोहे में होती है वह चमत्कारिक होने के साथ-साथ रीतिकालीन सामंतीय मनोवृत्ति के कितने अनुकूल है!

वर्णों का मिश्रण

वर्णों के मिश्रण में कवि को दुहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्र विशेष के लिए अनुकूल रंगों का चुनाव करना पड़ता है और दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर ध्यान देना पड़ता है। बिहारी और देव में विभिन्न रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई देती है। इनमें भी रंगों की छायाओं (शेड्स आफ कलर्स) की अद्‌भुत पकड़ में बिहारी की दृष्टि अचूक है।

बिहारी के रंग परिज्ञान तथा उचित रंगों के मेल की क्षमता 'सतसई' के पहले दोहे से ही परिलक्षित होने लगती है। इस दोहे में राधिका की शोभा, सौन्दर्य और अंगद्युति को उभार कर सामने रखना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है। इसी तरह कई रंगों के मेल से बाँसुरी की इन्द्रधनुषी शोभा देखिए :

अधर धरत हरि कैं परत ओठ डीठि पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति॥

वयःसंधि की अवस्था को बिहारी ने धूप-छाँह के रंग में देखा है :

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता-रंग॥

धूप-छाँह के रंग-संकेत से वयःसधि की शोभा कितनी भावपूर्ण हो गयी है।

विरोधी वर्ण-योजना

विरोधी रंगों की योजना में भावात्मक चित्रों के उरेहने का प्रयास पूरे रीति-काल में कम मिलेगा, किन्तु बिहारी ने इस ढँग से भी नायिका की छबि का भावपूर्ण अंकन किया है :

छिप्यौ छबीलौ मुँहु लसै, नीलैं अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी कैं नीर॥

× ×

सोनजुही सी जगमगति, अंग अंग जोबन-जोति।
सुरँग कसूँभी कंचुकी, दुरँग देह-दुति होति॥

प्रथम दोहे में नीले और श्वेत रंग का विरोध है और दूसरे में पीले और लाल का। एक में उक्तविषया-वस्तुत्प्रेक्षा और दूसरे में पूर्णालंकार द्वारा चित्र को खूब अच्छी तरह निखार दिया गया है। पहले में रूपाधायक अंश मुख्य है और दूसरे में सम्पूर्ण अंग की कान्ति। पहले दोहे में नीले और श्वेत रंगों का विरोध मुख-मंडल को नई छबि देता है। कालिंदी के नीले जल में झलमलाता हुआ चाँद

जल के आच्छादन से कहीं अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। चीर के नीले अंचल से मुख-मंडल की ज्योति झलमला रही है। झलमलै' शब्द सौन्दर्य पर एक झीना आवरण चढ़ाकर उसे और भी सुन्दर बना देता है। कुसुंभी पुष्प के लाल रंग में रंगी कंचुकी तथा नायिका के पीत रंग का विरोध सम्पूर्ण अंग ज्योति को दो रंगों वाला बना देता है। पहले दोहे का सौन्दर्य 'झलमलै' पर निर्भर है तो दूसरे का 'जगमगति' पर।

जहाँ केवल चमत्कार प्रदर्शन की दृष्टि से बिहारी ने रंगों का प्रयोग किया है वहाँ चित्र काव्योत्कर्ष क्षम नहीं बन पड़े हैं :

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ अली चंपककली बसि रसु लेतु निसाँक॥

नायिका की शोभायुक्त नाक में नीलम-जड़ी सींक जगमगा रही है। मानों भौंरा निश्शंक भाव से चंपे की कली पर बैठा रस ले रहा है। इसमें नील-पीत रंगों के विरोध से नायिका की शोभा वर्णित है। पर इससे कोई भावचित्र नहीं उभर पाता।

वर्ण-परिवर्तन

वर्ण-परिवर्तन मनःस्थितियों का प्रकाशक सहज कायिक व्यापार है। किसी मर्मस्पर्शी घटना का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़ता है कि चेहरे का रंग तत्काल बदल जाता है। कभी वह लाल हो जाता है तो कभी पीला, कभी सफेद हो जाता है तो कभी काला। यह परिवर्तन सहज और आकस्मिक होता है कि उससे घटनाविशेष का संबंध जोड़ लेने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। मानसिक व्यापारों का शरीर से गहरा सम्बन्ध है। मानसिक व्यापार शरीर पर गहरे प्रभाव छोड़ जाते हैं। प्रेम-प्रसंगों में जो रंग आता है वह लाल होता है। क्रोध में भी चेहरा लाल होता है। प्रेम की ललाई में एक प्रकार की स्निग्धता, कोमलता दिखाई देती है जिसके प्रति मन सहज भाव से आकृष्ट हो उठता है। क्रोध में चेहरा तमतमाया हुआ होता है जो चेहरे को विकर्षक बना देता है। किसी भी विशेष प्रसंग में तमतमाना भी अच्छा लगता है। जबकि प्रेमजन्य ललाई अच्छी ही लगती है। इस ललाई की गणना अनुभावों के अन्तर्गत होनी चाहिए। पश्चिम के कवियों ने चेहरे की लज्जाजन्य ललाई का प्रचुर वर्णन किया है। रीति-बद्ध कवि प्रायः गिने-गिनाए अनुभावों के चतुर्दिक चक्कर लगाते रहे। फिर भी उनमें वर्ण-परिवर्तन के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

बिहारी की नायिका का वर्ण-परिवर्तन देखिए :

पहिरत ही गोरैं गरैं, यौं दौरी दुति, लाल।
मनौ परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥

नायक ने मौलश्री की माला सखी द्वारा नायिका के पास भेजी है। सखी नायिका को माला पहना कर आयी है और वह नायक से नायिका की दशा का वर्णन करती है। गोरे गले में माला पहनते ही वह लज्जा से लाल हो गयी। मानसिक सम्बन्ध का त्वरित प्रभाव उसकी अंग-दुति पर पड़ा। 'दौरी' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। गौरवर्ण को अपने आच्छादन में समेटते हुए लज्जाजन्य दुति दौड पड़ी। दौड़ने की अनजान क्रिया मानसिक सम्बन्धों की सघनता और तीव्रता को प्रकाशित करती है। लज्जा के कारण लाल होने का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देखिए :

ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखत गोय।
नवल बधू डर लाज तें, इन्द्रबधू सी होय॥

(मतिराम)

नायिका नवोढ़ा है। नायक ज्यों-ज्यों उसके शरीर का स्पर्श करता जाता है त्यों-त्यों वह संकुचित होती जाती है। वह डर और लज्जा के कारण इन्द्रवधू के सदृश बन जाती है। 'इन्द्रवधू' को छू दीजिए कि वह छुई-मुई हुई। उसका लाल रंग नायिका की लज्जा को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। 'इन्द्रवधू' शब्द वस्तुतः उपलक्षित चित्र योजना के अन्तर्गत आता है। इसके माध्यम से लज्जा के समस्त व्यापार अपनी समग्रता में विवृत हो उठते हैं।

शरीर के रंग (गोराई) से नायिका की माला का रंग बदल गया है। पर अज्ञातयौवना होने के कारण उसे इसका पता नहीं चलता। इस वर्ण-परिवर्तन का अत्यन्त नयनाभिराम चित्र 'बेनी प्रवीन' ने खींचा है :

काल्हई गूँथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पाहरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज को, संग भई जमुना तट बाला॥
न्हात उतारी हौं 'बेनी प्रबीन' हँसै सुनि नैनन बैन रसाला।
जानत ना अंग की बदली, सब सों बदली-बदली कहै माला॥

नायिका के गले में जो गजमोतियों की माला पड़ी थी उसका रंग बदल गया है। इस पर वह बेहद हैरान है—'बाबा की शपथ है कि मैंने अभी कल ही तो गजमोतियों की एक सुन्दर माला पहनी थी, किन्तु यह पुखराज की माला कहाँ से आ गयी? कहीं यमुना तट पर स्नान करते समय किसी की माला से यह बदल तो नहीं गयी?' उस बेचारी मुग्धा को क्या पता कि शरीर की पीताभ छाया के कारण गजमुक्ताओं की श्वेत माला का रंग कुछ इस प्रकार बदल गया है कि

उससे पुष्पराग मणियों की माला की भ्रान्ति होती है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहों में कोई दूती नायक से नायिका की प्रेमानुभूति का चित्र खींचकर नायक के मन की ललक को और भी अधिक बढ़ा देने का उपक्रम कर रही है। मतिराम के दोहे में नायिका को विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुई-मुई होती हुई दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को और भी तीव्र बना देना है। बेनी-प्रबीन का वर्ण-योजनाओं द्वारा नायिका के सौन्दर्य-अंकन का प्रयास उससे भिन्न नहीं है। सभी वर्ण-योजनाओं द्वारा नायिकाओं के ऐश्वर्य-दीप्त, आकर्षक और उन्मादक सौन्दर्य को प्रस्तुत किया गया है जो एक ओर साहित्यिक परम्परा से अनुमोदित था तो दूसरी ओर तत्कालीन सामंतीय परम्परा से समर्थित।

बिहारी की महत्ता

समग्र हिन्दी साहित्य में रामचरितमानस को छोड़कर किसी भी ग्रन्थ को उतनी लोकप्रियता नहीं मिली जितनी बिहारी सतसई को प्राप्त हुई। खुली शृंगारिकता के प्रति बहुत कुछ अरुचि हो जाने के बाद भी उसकी ख्याति में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। क्या 'सतसई' की चमत्कारिकता को उसकी ख्याति का कारण माना जा सकता है? पर चमत्कार का मुलम्मा बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में उसकी प्रसिद्धि के कारणों को सतसईगत काव्योचित मूल्यों में ही खोजना होगा।

हिन्दी सतसइयों की परम्परा[1] में बिहारी सतसई का शीर्षस्थानीय होना इस तथ्य का प्रमाण है कि उसमें अन्य सतसइयों की अपेक्षा कुछ विशेष अधिक है। उसकी टीकाओं की परम्परा भी कम लम्बी नहीं है।[2] ये टीकाएँ इस बात की द्योतक हैं कि पठन-पाठन के क्षेत्र में सतसई का विशेष प्रसार था। यह सब सतसई की आन्तरिक विशेषताओं के कारण हुआ।

सतसई का कथ्य तथा शैली दोनों ही अपने युगसामंतीय युग की विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण ईमानदारी की दृष्टि से अन्यतम है। सामंतीय ऐन्द्रिय बोध के अनुरूप जिस भाषा शैली का प्रयोग बिहारी ने किया वह एक ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद आगे नहीं बढ़ सकी। बाद की सतसइयाँ बिहारी की अनुकृति पर लिखी जाने के कारण प्रायः ताज़गी से शून्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि

---

१. बिहारी की देखा देखी 'मतिराम सतसई', 'शृंगार सतसई', चन्दन सतसई,' 'वृन्द सतसई', 'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली' आदि का प्रणयन हुआ। इससे पता लगता है कि उस सतसई का प्रभाव ही आधुनिक युग की सतसइयों पर नहीं पड़ा, बल्कि पंडितों और प्रवीणों ने उनका आदर भी किया। वियोगी हरि को 'वीर सतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक' तथा 'दुलारे दोहावली' पर 'देव पुरस्कार' मिला।

२. कृष्णलाल की टीका, मानसिंह की टीका, चरणदास की टीका, पठान सुलतान की कुण्डलियों वाली टीका, अनवर चन्द्रिका टीका, राजा गोपालशरण की टीका, कृष्ण कवि की कवित्तबन्ध टीका, साहित्य चन्द्रिका टीका, अमर चन्द्रिका टीका, रघुनाथ बन्दीजन की टीका, रसचन्द्रिका टीका, हरिप्रकाश टीका आदि।

परवर्ती सतसइयाँ कहीं पर भी बिहारी से आगे नहीं बढ़ पातीं। किंतु सतसइयों पर समग्रतः विचार करने पर बिहारी सतसई बेजोड़ सिद्ध होती है।

बिहारी सतसई के बाद यदि किसी अन्य श्रेष्ठ सतसई का नामोल्लेख होगा तो मतिराम सतसई का। बिहारी और मतिराम लगभग समसामयिक थे। एक पीढ़ी के कवि होने के नाते उनका ऐन्द्रिय-बोध भी मिलता-जुलता था। यह आवश्यक नहीं है कि एक समय के दो कवियों के ऐन्द्रियबोध में समानता हो ही। कभी-कभी ऐन्द्रिय-बोध की विभिन्नता के कारण एक कवि समसामयिक प्रतीत होता है तो दूसरा कई शताब्दी पहले का। एक युग के दो कवियों में यदि वे युगीन चेतना के प्रति जागरूक हों तो, लगभग एक प्रकार का ऐन्द्रिय बोध होता है और उनकी प्रयुक्त शब्दावली में भी एक तरह की समानान्तरता आ जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह कसाव है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

विक्रमसाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लभभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनूभूतियों को नई शब्दावली देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की अत्यधिक अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है, बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण संभव भी कैसे होता! अच्छी विशेषताओं का अनुकरण प्रायः नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है :

'···बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकलना नहीं, बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जाएगा।···जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहां ?'···

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है, जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया, दूसरे कथ्य के अनुकूल शब्द-योजना भी परिवर्तित हो गयी है। तीसरे इसकी विषय-वस्तु बदल कर युगानुरूप बना दी गयी है। बिहारी की परम्परा में पड़ने वाली 'दुलारे दोहावली', जिसमें बिहारी

की बारीकी, वैदग्ध्य, चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं, कुछ दिनों तक रीतिकालीन मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर लुप्तप्राय हो गयी। 'बिहारी सतसई' एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी, उसके बाद उसकी अनुकृति ही संभव है। 'दुलारे दोहावली' में बिहारी की भाषिक विशेषताओं को ही ले आने का प्रयास नहीं किया गया बल्कि मध्यकालीन विषय-वस्तु को भी ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने का प्रयास किया गया। अतः यह आधुनिक युग की मानसिकता के अनुरूप नहीं सिद्ध हुई।

इस काल के दूसरे विशिष्ट कवि देव, जिन्हें बिहारी की तुलना में बार-बार ले आया जाता है, मुख्यतः कवित्त, सवैये के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करते रहे। उन्होंने अलग ढँग से अनुभव किया और उसकी अभिव्यक्ति के लिए अलग माध्यम ग्रहण किया। इसके फलस्वरूप उनकी शब्दावली (इडियम) भी कुछ भिन्न हो गयी। कुछ युगीन विशेषताओं को छोड़कर दोनों कवियों की परम्पराए अलग-अलग थी। बिहारी मुक्तक काव्य परम्परा में पड़ते हैं तो देव रीतिबद्ध काव्य-परम्परा में। इसके अतिरिक्त दोनों की जीवन-दृष्टि में एक प्रकार की समानता होते हुए भी ऐन्द्रियबोध में विभिन्नता थी। 'बिहारी' का ऐन्द्रियबोध वस्तुनिष्ठ था तो देव' का आत्मनिष्ठ। इस विभिन्नता के कारण बिहारी की अभिव्यक्ति में विशेष प्रकार की सजगता और सतर्कता आ गयी है तो देव की अभिव्यक्ति में भावाविष्ट आवेगमयता। अतः दोनों के दृष्टिकोण की तुलना तो की जा सकती है, पर दोनों के काव्य को तुलनात्मक दृष्टि से देखना तुलनात्मक आलोचना के साथ अन्याय करना है।

इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कहना है—'बिहारी में सौन्दर्य के सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्दबद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीतियुग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौन्दर्य में पूर्णतः रसमग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए देव के काव्य की आत्मा बिहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य शिल्प की दृष्टि से दोनों पक्ष समान रूप से प्रबल हैं—यद्यपि यहाँ भी टेकनीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। स्वभावतः उनके शिल्प का मुख्य गुण है जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामंजस्य अधिक है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यन्त विकसित, तथा समास गुण अद्भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और औज्वल्य अधिक है। अतएव शिल्पी रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है।' किन्तु जहाँ तक काव्य के उत्कर्षापकर्ष का सवाल है यह भी निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है। ध्वनिवादी

को बिहारी का काव्य अधिक काव्य-गुण-समन्वित मालूम पड़ेगा तो रसवादी को देव का। इसीलिए प्रारम्भ में ही इसका संकेत किया जा चुका है कि ऐन्द्रिय-बोध की असमानता के कारण दोनों की तुलना औचित्यपूर्ण नहीं मानी जा सकती।

मतिराम बिहारी और देव के मध्यवर्ती हैं। उनमें आंशिक रूप से भावात्मक तरलता और सतर्कता दोनों है। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति के लिए दोनों प्रकार के माध्यमों—दोहा तथा कवित्त-सवैया—को ग्रहण किया है। पद्माकर की काव्यानुभूति शक्तिमती अवश्य है, पर देव की तरह भाषा की चुस्ती का उनमें भी अभाव है। दोनों की शैली को व्यास-शैली कहा जा सकता है, जिसमें वस्तु और शब्द दोनों का अनपेक्षित फैलाव है। इस काल में क्लैसिकल परिपक्वता बिहारी में ही प्राप्त होती है जो अपनी सामसिकता थोड़े में अधिक कर सकने के सामर्थ्य, संयम, व्यंजकता आदि के कारण अद्वितीय है।

ऐन्द्रियबोध की विभिन्नता के कारण अभिव्यक्ति की पद्धति में जो अन्तर आता है उससे कवियों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ उद्घाटित की जा सकती हैं। किन्तु यदि बिहारी के ऐन्द्रियबोध का स्पष्टीकरण कर लिया जाए तो उनके मूल्यानुचिन्तन में अधिक सहायता मिलेगी।

किसी व्यक्ति को बाह्य जगत का बोध किसी-न-किसी इन्द्रिय के माध्यम से होता है। इसी के आधार पर स्मृतियों और कल्पनाओं का निर्माण होता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मानवीय इन्द्रियाँ कैमरे का लेंस नहीं हैं जो बाह्य आकृतियों को ज्यों-का-त्यों उतार लें। यह प्रभा (परसेप्शन) परक ज्ञान फोटोग्राफी के ज्ञान से भिन्न होता है। व्यक्ति की विचित्रताएँ और वैयक्तिक विशेषताएं बाह्य बोध को बहुत कुछ नये रूप में ढाल देती है। इसीलिए प्रभावात्मक बोध को मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक ज्ञान से अधिक माना है। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति के अन्तरजीवन की परख होती है।

इस ऐन्द्रियबोध की जो प्रतिक्रिया होती है वह मुख्यतः दो प्रकार की है—संवेदनात्मक तथा आवेगनात्मक। संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध संयम, सुरुचि और संस्कृति से होता है तो आवेगात्मक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध जैविक जगत से होता है। बिहारी के अतिरिक्त रीतिकाल के शेष प्रतिनिधि कवियों में आवेगमयता का प्राधान्य है। उन कवियों की तुलनात्मक विवेचन करते समय उनकी आवेगमयता के विभिन्न दर्जों की व्याख्या करनी पड़ेगी। बिहारी का वैशिष्ट्य उनके संवेदनात्मक काव्यचित्रों में निहित है जो व्यापक काव्य-चेतन और मानसिक संघटना की अपेक्षा रखता है।

आवेगात्मक काव्य जैवी मनोवृत्तियों से सम्बद्ध होने के कारण पाठकों के मन पर शीघ्रतापूर्वक गहरा प्रभाव डालकर उन्हें आंदोलित करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं। संवेदनात्मक काव्य अपेक्षाकृत व्यापक जीवन-भूमि की अपेक्षा रखते हैं,

इसलिए उनकी अनुगूंज भी अधिक स्थिर और गहरी होती है। विहारी के काव्य का वैशिष्ट्य उनकी संवेदनात्मक अनुगूंज में है, उनके ऐन्द्रियबोध की विशेषता में है, उनकी शब्दावली के अनूठे प्रयोग में है।

कहना न होगा कि इस युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में विहारी का स्थान अप्रतिम है। अन्य राज्याश्रित कवियों की अपेक्षा विहारी मानसिक दृष्टि से अधिक स्वतंत्र कवि हैं। अतः युग की प्रवृत्तियों का जितना सूक्ष्म, तलस्पर्शी और यथार्थ चित्र उनकी सतसई में मिलेगा उतना उस युग को एक कवि की रचनाओं में नहीं दिखाई देगा। अत्यधिक सचेत कवि होने के कारण शब्दों की अर्थवत्ता की पकड़ भी उनमें अद्वितीय है। अलंकारों के विन्यास, अनेक स्तरीय अर्थ-ध्वनियों तथा संरचना की दृष्टि से केवल घनआनंद को ही उनसे समकक्ष रखा जा सकता है।

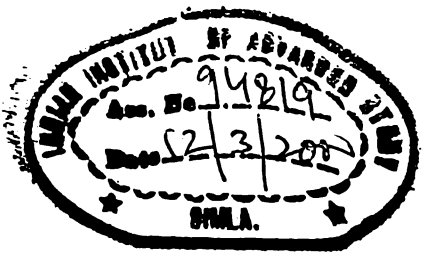
INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 9482
Date 12/3/2008
SHIMLA.

अपने युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में बिहारी का स्थानति अप्रम है। अन्य राज्याश्रित कवियों की अपेक्षा बिहारी मानसिक दृष्टि से अधिक स्वतंत्र कवि हैं। अतः युग की प्रवृत्तियों का जितना सूक्ष्म, तलस्पर्शी और यथार्थ चित्र उनकी सतसई में मिलेगा उतना उस युग के एक कवि की रचनाओं में नहीं दिखाई देगा। अत्यधिक सचेत कवि होने के कारण शब्दों की अर्थवत्ता की पकड़ भी उनमें अद्वितीय है। अलंकारों के विन्यास, अनेक स्तरीय अर्थध्वनियों तथा संरचना की दृष्टि से केवल घनआनन्द को ही उनसे समकक्ष रखा जा सकता है।

डॉ॰ बच्चन सिंह हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापकों तथा आलोचकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने हिन्दी के विभिन्न युगों तथा रचनाकारों पर अनेक पुस्तकें तथा निबंध लिखे हैं। वे पिछले दिनों हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला से हिन्दी विभाग में प्राध्याक तथा अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए और अब वाराणसी में स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं।

ISBN 81-260-0414-2

मूल्य : पच्चीस रुपये

Library IIAS, Shimla
H 811.31 B 489 S
00094819